Registration No. V-36244/2008-09 **ISSN :- 2350-0611**

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48441 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 5.23

Research Highlights

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor
Dr. Kamlesh Kumar Singh
Assistant Professor
Department of Sociology
Pt. D.D.U. Govt. Girls P.G. College
Sevapuri, Varanasi

Volume - XII **No. - 4** **(Oct. – Dec. 2025)**

(Part – II)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Research Highlights - *A Referred Journal, Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, (U.P.)
Pin. - 221 010
Mobile No. :- 09336924396
Email- researchhighlights1@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Research Highlights" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2350-0611

Printed by
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh,** United Nations Professor of Plant Physiology, Department of Plant Sciences, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Pramod Rao,** Assistant Professor, Department of Hindi, VBS Purvanchal University, Jaunpur
- **Dr. Anil Pratap Giri,** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

ଔ

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Shailendra Singh,** Professor and Head, Department of Sociology, J.S. University, Sikohabad, U.P.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Satyapal Yadav,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Brajesh Kumar Prasad,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Dewendra Pratap Tiwari,** Assistant Professor, Department of Political Science, Shree Lakshmi Kishori Mahavidyalaya (A Constituent Unit of BRA Bihar University, Muzaffarpur), Bihar

- **Dr. Hena Hussain,** Assistant Professor, Department of Psychology, Oriental College, Patna City (A Constituent Unit of Patliputra University, Patna), Bihar
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Vaibhav Kaithvas,** Assistant Professor, Department of Performing Art, Eklavya University, Sagar Road, Damoh, MP
- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi

EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Research Highlights,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor

CONTENTS

"Research Highlights"

➲	भारतीय शास्त्रीय संगीत में सितार वाद्य का ऐतिहासिक विकास और योगदान ***डॉ. कविता***	01-04
➲	NEP–2020 के आलोक में मूल्य–आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों का सह–अस्तित्व ***डॉ. दिनेश सिंह***	05-10
➲	आदिकालीन लोक साहित्य में अभिव्यक्त समाज और संस्कृति ***मनीष यादव***	11-16
➲	संजीव के उपन्यासों में आदिवासियों के जीवनः स्थिति एवं संघर्ष ***शुभम सरोज*** ***डॉ. प्रद्युम्न कुमार पासवान***	17-21
➲	साहित्यिक स्रोतों में वर्णित प्राचीन मगध क्षेत्र वस्त्र एवं आभूषण ***डॉ. शालिनी कुमारी***	22-25
➲	भाषा की प्रकृति, परिभाषा एवं विशेषताएँ ***डॉ. श्रीकान्त यादव***	26-32
➲	21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में ग्राम–बोध और बदलते सरोकार ***भवानी सिंह गुर्जर*** ***डॉ. रेखा शेखावत***	33-40
➲	भारत दर्शन परम्परा में पर्यावरण नैतिकता का स्वरूप ***नन्दिनी***	41-43
➲	टाटा मोटर्स में संगठनात्मक संस्कृति का कर्मचारियों पर प्रभाव ***अमित कुमार*** ***डॉ. सर्वेश सिंह***	44-52
➲	पुरस्कार कहानी की कथावस्तु का केन्द्रीय विचार ***डॉ. चन्द्रकला बी आर***	53-55
➲	बिहार में आपातकालीन स्थिति के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संघर्ष ***बसंत कुमार राणा***	56-59
➲	पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में से भावी शिक्षा नीतियों के लिए चयनित किए जा सकने योग्य विचार ***मल्लिका*** ***प्रवीण कुमार तिवारी***	60-68
➲	आधुनिक वैश्विक परिप्रेक्ष्य में गांधी का सत्याग्रहः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन ***रवि कुमार***	69-73

भारतीय शास्त्रीय संगीत में सितार वाद्य का ऐतिहासिक विकास और योगदान

डॉ. कविता*

शोध सारांश:

प्रस्तुत शोध आलेख में भारतीय शास्त्रीय संगीत में सितार वाद्य की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति, ऐतिहासिक विकास, वादन-विशेषताओं तथा संगीत में उसके बहुआयामी योगदान का विस्तृत विवेचन किया गया है। सितार शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर भारतीय एवं फारसी विद्वानों के विभिन्न मतों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, जिनमें 'सेहतार' (तीन तार), 'सप्ततंत्री वीणा', 'सा बन्धते' धातु तथा 'मुरुयष्टि'[1] जैसे शब्दों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि सितार का मूल संबंध प्राचीन वीणा परंपरा से है। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष उभरता है कि सितार वीणा का ही एक विकसित, संशोधित एवं परिष्कृत रूप है, जिसने कालांतर में अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित की।

शोध में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि सितार केवल एक वाद्य यंत्र नहीं, बल्कि मानव मन को शांति, आनंद और आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करने का सशक्त माध्यम है। इसके वादन की तकनीक—मिज़राब, मींड, अलंकरणों तथा सहायक तारों की गूंज—इसे अन्य तंत्री वाद्यों से विशिष्ट बनाती है। साथ ही पं. रविशंकर और उस्ताद विलायत ख़ान जैसे महान कलाकारों के माध्यम से सितार ने वैश्विक स्तर पर भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्रतिनिधित्व किया और पूर्व तथा पश्चिम के संगीत संवाद को सुदृढ़ किया।

शब्द कुंजी – सितार, भारतीय शास्त्रीय संगीत, वीणा परंपरा, रागात्मक अभिव्यक्ति, वैश्विक संगीत प्रभाव

सितार की उत्पत्ति एवं विकास- (सितार शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ) सितार शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में भारतीय चिंतकों, कोषकारों एवं संगीत-मनीषियों में मतभेद हैं। पं. ओंकार नाथ ठाकुर ने प्रचलित सितार को सतार कहने की प्रथा का आश्रय लेकर इस शब्द की व्युत्पत्ति सप्ततंत्री वीणा से मानी है। उनके अनुसार वीणा को सप्ततार, सतार या सितार कहा गया। अभिनव हिन्दी कोष के सम्पादक श्री रामचन्द्र वर्मा ने एकगहन गम्भीर शब्द की विवेचना करने के स्थान पर सितार को बीन की तरह का एक बाजा कहकर अपने दायित्व की इतिश्री कर ली है। उनके अनुसार सितार बीन की तरह का, पर उससे छोटा एक प्रसिद्ध बाजा, जिसके तारों को तर्जनी में पहनी हुई मिजराब से झनकारते हैं तथा इस पर राग-रागनियाँ, निकालते हैं।' फारसी एनसाइक्लोपीडिया 'लोघाटनामा' में शब्द सेह-तार का उल्लेख मिलता है जोकि कानूनी भाषा में प्रचलित है।

दर ज़बान कानूनी नीज सेहतार

यदि शब्द सेह-तार का विश्लेषण किया जाए तो निम्नलिखित अर्थ मिलेगा-

सेह + तार' + हे (निस्बत) दाराह
सेह सीमा एक
निस्बत से अभिप्राय है सम्बन्ध
सेह से अभिप्राय है तीन
सीम से अभिप्राय है वाद्य यंत्र के तार
रक से अभिप्राय है संकीर्ण संयोजक
भाग (नैक)[2]

दाराह से अभिप्राय है दृढ़ता से पकड़ना अर्थात् फारसी भाषा में 'सेह' शब्द तीन की बोध संज्ञा है। इसलिए तार से विर्निमित वह वाद्य जिसमें तीन तार थे। प्रथमतः सेहतार नाम से पुकारा गया 'सेहतार' से सितार नामकरण के सम्बन्ध में यह अनुमान किया जा सकता है कि भाषा की सुगम उच्चारण प्रवृति के प्रति लोगों के सहज आकर्षण के चलते कालान्तर में 'सेहतार' से 'सितार' हो गया होगा। विभिन्न विद्वानों ने सितार संरचना के विकास को रेखांकित करते हुए आंशिक रूप से इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। पं. जगदीश नारायण

* अतिथि व्याख्याता– सितार, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ. ग.)
ईमेल– kavitamusicdu@gmail.com

1. ठाकुर, वंदना, तरबदार सितार की उत्पत्ति, विकास एवं महत्त्व, कनिष्क पुब्लिशर्स नई दिल्ली, पृष्ठ 16.
2. ठाकुर, वंदना, तरबदार सितार की उत्पत्ति, विकास एवं महत्त्व, कनिष्क पुब्लिशर्स नई दिल्ली, पृष्ठ 16.

पाठक के अनुसार सितार शब्द की व्युत्पत्ति 'सा बन्धते' धातु से हुई है। जिसमें अधोवत तीन शब्दों का विनियोग है— सित + आ + र। यह तीनों शब्द निम्न अर्थ के प्रतिबोधक हैं –

सितैः = बन्धनैः

आ = समन्तात

र = रंजयति इति सितारः

अर्थात् बन्धनों द्वारा जो सब ओर से आनन्दित करता है वह वाद्य सितार है। इस अर्थ में सितार नाम सार्थक है। क्योंकि सितार में तारों का बन्धन, पर्दों का बन्धन, मिजराब का बन्धन, गतों का बन्धन है। इस प्रकार यह बन्धनमय वाद्य है। यदि इनमें से किसी भी बंधन का उलंधन किया जाए तो सितार द्वारा रंजकता उत्पन्न हो ही नहीं सकती। यहां तक कि इस वाद्य में बैठक का भी बन्धन है । सितार की सार्थकता व्यंजित करने वाले उपयुक्त मन्तव्य के क्रम में यह उल्लिखित करना असंगत न होगा कि हिन्दुस्तान में पूर्व मध्यकाल में विभिन्न संख्याओं में प्रयुक्त तारों वाली वीणाएं प्रचलित थी। जैसे-एक तार युक्त एकतंत्री, दो दार युक्त नकुली, तीन तार युक्त त्रितंत्री वीणा का परिवर्तित रूप। इसके साथ ही प्राचीन भाषा साहित्य में सितार के अर्थ में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों का प्रचलन उपयुक्त मान्यता की ही पुष्टि करता है।

विश्वर नाथ भट्ट ने सितार की मूल प्रवृत्ति एवं जन सामान्य को इससे प्राप्त होने वाले आनन्द के सन्दर्भ में सितार शब्द के अर्थ को व्याख्यायित किया है। उन्हीं के शब्दों में-'सितार' का अर्थ है 'सतआर' अर्थात् अच्छा मित्र, अर्थात् एकांत स्थान में अकेला पुरुष जिसे अनेकों शोक-सन्ताप खेद पीड़ा दे रहे हों, ऐसा प्राणी, वह यदि सितार वाद्य जानता है, यहाँ तक कि वह गायन भी न जानता हो, तो भी सितार पर से गतें ही बजाकर या सुनाकर दूसरों के मन को प्रफुल्लित कर सकता है।

भट्ट जी की उपर्युक्त मान्यता से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सितार' संगीत की मूल प्रवृत्ति के काफी निकट है। क्योंकि संगीत का मूल उद्देश्य व्यक्ति को सभी प्रकार की चिन्ताओं एवं क्षोभों से मुक्त कर संगति की संस्थापना है। सितार इस दिशा में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता हुआ मानव जीवन-जगत में रस घोलता हुआ दिखाई देता है।

गर्ग संहिता की पं. ज्वाला प्रसाद मिश्रकृत हिन्दी टीका में 'मुरुयष्टि' शब्द को सितार का समानार्थी बताया गया हैं। उन्होंने 'मुरुयष्टि' शब्द की व्युत्पत्ति परक विवेचन एवं विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए उसका अर्थ सितारे सिद्ध करने की सफल चेष्टा की है। उनके द्वारा प्रस्तुत की गई मुरुयष्टि शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से प्रस्तुत की गई है जो उपर्युक्त मत को सबल आधार प्रस्तुत करती हुई प्रतीत होती है। मुरूण = अङलीवेष्टनन, यजते संगच्छते इति सा मुरुयष्टिः अर्थात् मिजराब से ही बजाई जाती हैं।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सितार के अर्थ को लेकर विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से पृथक-पृथक मतों का प्रतिपादन किया है। ध्यानपूर्वक देखें तो यह समस्त मत एक दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर पूरक से लगते हैं। सभी मतों के मूल में एक तथ्य समान रूप से समाहित है कि सितार वीणा का ही परिवर्तित एवं संशोधित रूप हैं। वीणा के कुछ रूप इससे समरूपता रखते हैं। इस अर्थ में इससे समरूपता लिए हुए वीणा रूपों के पर्याय इसके समानार्थी माने गए। उदाहरण के लिए वीणा का त्रितंत्री रूप इसी मत का प्रबल समर्थक नहीं तो क्या है। गर्ग संहिता की हिन्दी टीका के अन्तर्गत दी गई सितार की व्युत्पत्ति विषयक विवेचना को उपर्युक्त मान्यता के समर्थन के रूप में ही देखा जाना चाहिए। साथ ही सितार की अर्थ विषयक सभी विवेचनाओं में उसकी मधुरता, रंजकता एवं संतप्त मानव मन को शान्ति प्रदान करने वाले विशिष्टता की ओर किसी न किसी रूप में कमोबेश संकेत अवश्य हुआ है।

फारसी विषयक मत भी उपर्युक्त मान्यताओं पर ही समर्थन की मोहर लगाता लक्षित होता है। समग्र रूप में सितार अपने आप में ऐसे अभिधेयार्थ का व्यंजक है जो उस वाद्य के लिए प्रयुक्त होता है, जिसका विर्निमाण त्रितन्त्री वीणा से हुआ। कुछ विद्वानों ने तो इसे त्रितन्त्री वीणा की अनुकृति माना है। किन्तु इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि सितार के अर्थ से जुड़ी समस्त प्रतिपत्तियाँ यह स्वीकार करती हैं कि सितार ने मानव के अन्तर्मन को बहुत गहराई तक प्रभावित किया है। साथ ही तारों के सहारे समस्त स्वर संधान का विधान सितार पर सम्पादित होता है। यह भी सितार के नामकरण का आधार हो सकता है। ·

दूसरे अर्थ में सितार अर्थ की दृष्टि से अपने-आप में इस अवधारणा को भी अर्न्तभूत किए हुए है कि सित का अर्थ हिन्दी भाषा में स्वच्छ, सफेद और श्वेत से है। इस अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि सितार निराशा से आच्छन्न अंधकार में गोते लगा रहे व्यक्ति का सुःख-शान्ति की उज्जवल श्वेत प्रभा की ओर अग्रसर करने के कारण सितार का नाम सितार पड़ा होगा।

---

3. ठाकुर, वंदना, तरबदार सितार की उत्पत्ति, विकास एवं महत्त्व, कनिष्क पुब्लिशर्स नई दिल्ली, पृष्ठ 17.

सितार वादन की सामान्य विशेषताएँ

- **तकनीक:** मिज़राब (तार का तार) से तार छेड़ना और उंगलियों से स्वरों को खींचना (मींड)।
- **अलंकरण:** कण, खटका, मुर्की, गमक, कम्पन्न, हरकत और लहक जैसे अलंकरणों का प्रयोग।
- **तार:** आमतौर पर 6-7 मुख्य तार और 11-13 सहायक (सिम्पैथेटिक) तार होते हैं, जो गूंज पैदा करते हैं।

सितार का संगीत में योगदान - सितार भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुका है। इसके द्वारा प्रस्तुत किए गए राग और ताल शास्त्रीय संगीत के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सितार की ध्वनि में एक अद्भुत गहराई और शांति होती है, जो श्रोताओं को एक आध्यात्मिक और भावनात्मक यात्रा पर ले जाती है। सितार का योगदान न केवल भारतीय शास्त्रीय संगीत में है, बल्कि इसे पश्चिमी संगीत के साथ भी जोड़ा गया है। पं. रविशंकर जी और उस्ताद विलायत ख़ान जी जैसे सितारवादकों ने इसे वैश्विक स्तर पर लोकप्रिय किया, जिससे भारतीय संगीत को विश्वभर में पहचान मिली। इसके संगीत में राग, ताल, और भावनात्मक गहराई का समागम होता है, जो इसे अन्य वाद्य यंत्रों से अलग बनाता है। निम्नलिखित बिंदुओं में सितार के संगीत में योगदान को विस्तार से समझा सकते हैं।

1. रागों की गहरी प्रस्तुति : सितार के वादन में रागों की प्रस्तुति का तरीका अत्यंत परिष्कृत और गहरी होती है। सितार के सुर और ध्वनि की विशेषता यह है कि यह श्रोताओं को राग के भीतर की भावना और भावनात्मक अवस्था का एहसास कराती है। सितार की ध्वनि में एक आध्यात्मिक गहराई और शांति होती है, जो श्रोताओं को ध्यान और मानसिक शांति की ओर मार्गदर्शन करती है। इस प्रक्रिया के दौरान, सितार के सुर रागों की गूंज को और अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं, जिससे श्रोताओं के मानसिक और भावनात्मक अनुभव को एक गहरे स्तर पर पहुंचाया जाता है।

2. भावनात्मक और आध्यात्मिक यात्रा : सितार वादन की विशेषता है कि यह न केवल एक संगीतमूलक अनुभव प्रदान करता है, बल्कि एक आध्यात्मिक और भावनात्मक यात्रा पर भी ले जाता है। इसकी मधुरता और सुरों की गूंज श्रोताओं को शांति, समाधि, और ध्यान की स्थिति में पहुंचा सकती है। इसके वादक रागों के माध्यम से श्रोताओं को एक गहरी और स्थिर मानसिक स्थिति में ला सकते हैं, जो भारतीय संगीत के आध्यात्मिक पहलू को उजागर करती है।[4]

3. वैश्विक प्रभाव और संवाद : पं. रविशंकर और उस्ताद विलायत ख़ान जैसे सितार वादकों ने सितार को न केवल भारतीय संगीत के दायरे में रखा, बल्कि उसे पश्चिमी संगीत के साथ भी जोड़ा। पं. रविशंकर ने भारतीय शास्त्रीय संगीत को पश्चिमी संगीत की दुनिया में प्रस्तुत किया और सितार को अंतरराष्ट्रीय मंचों पर एक नई पहचान दिलाई। उन्होंने सितार के माध्यम से भारतीय रागों और तालों की गहराई को पश्चिमी दर्शकों के सामने रखा, जिससे भारतीय संगीत को वैश्विक स्तर पर पहचान मिली। इस प्रकार, सितार का योगदान केवल भारतीय संगीत तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह संगीत की वैश्विक धारा का हिस्सा बन गया।[5]

4. संगीत के विभिन्न रूपों में योगदान : सितार ने भारतीय शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ लोकप्रिय संगीत और फिल्म संगीत में भी योगदान दिया। सितार के विशिष्ट सुरों ने भारतीय फिल्म संगीत को अपनी पहचान दी है, जैसे कि कई प्रसिद्ध फिल्मों में सितार का इस्तेमाल किया गया है, जिनसे संगीत को एक अलग ही रंग मिला है। इसके अलावा, पं. रविशंकर जी और उस्ताद विलायत ख़ान जी के संयोजन ने भारतीय और पश्चिमी संगीत को एक नया आयाम दिया, जिससे दोनों सांस्कृतिक संगीत परंपराओं का संगम हुआ।[6]

5. संगीत के तकनीकी पहलुओं में योगदान: सितार के वादन की तकनीक में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उस्ताद विलायत ख़ान जैसे सितारवादकों ने वादन की शास्त्रीय तकनीकों में कई नवाचार किए, जैसे आलाप, जोड़ और तान में गहरी सूक्ष्मता, जिससे सितार की वादन शैली को और अधिक प्रभावशाली बनाया। इसके साथ ही सितार के सुरों की संरचना और ध्वनि में बदलावों ने भारतीय संगीत की विविधता और गहराई को और बढ़ाया।[7]

निष्कर्ष-

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सितार भारतीय शास्त्रीय संगीत की एक अत्यंत महत्वपूर्ण और जीवंत धरोहर है। इसकी उत्पत्ति प्राचीन वीणा परंपरा में निहित होते हुए भी इसका विकास निरंतर नवाचार, प्रयोग और परिष्कार के साथ हुआ है। सितार की संरचना,

---

4. कृष्णा, पं. सूरज, सितार: संगीत के भावनात्मक और आध्यात्मिक आयाम, जयपुर: संगीत संस्कृति प्रकाशन, पृष्ठ 120-145.
5. वागीश, डॉ. माया, भारतीय संगीत और सितार के वैश्विक प्रभाव, दिल्ली: संगीतशास्त्र विद्या, पृष्ठ 74-90.
6. लाहिरी, उस्ताद इनायत ख़ान, सितार वादन की संरचना और उसकी शैली, कोलकाता: रागेश्वरी प्रकाशन, पृष्ठ 50-70.
7. विलायत ख़ान, उस्ताद, सितार वादन की शास्त्रीय परंपराएँ और आधुनिक प्रयोग, वाराणसी: रागिनी प्रकाशन, पृष्ठ 87-108.

वादन तकनीक, अलंकरण तथा रागात्मक अभिव्यक्ति ने इसे गहन भावनात्मक और आध्यात्मिक प्रभाव से युक्त वाद्य बनाया है। विभिन्न घरानों और महान कलाकारों के योगदान से सितार की परंपरा समृद्ध हुई और उसने शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, फिल्म तथा वैश्विक संगीत में भी अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज कराई।

इस प्रकार, सितार न केवल भारतीय शास्त्रीय संगीत की सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है, बल्कि सांस्कृतिक संवाद, आध्यात्मिक अनुभूति और वैश्विक संगीत चेतना का भी एक महत्वपूर्ण सेतु है। भविष्य में भी सितार की परंपरा नवाचार और अनुसंधान के माध्यम से भारतीय संगीत की गरिमा और पहचान को और अधिक सुदृढ़ करती रहेगी।

संदर्भ सूची:

1. ठाकुर, वंदना, तरबदार सितार की उत्पत्ति, विकास एवं महत्त्व, कनिष्क पुब्लिशर्स नई दिल्ली, पृष्ठ 16.
2. ठाकुर, वंदना, तरबदार सितार की उत्पत्ति, विकास एवं महत्त्व, कनिष्क पुब्लिशर्स नई दिल्ली, पृष्ठ 17.
3. ठाकुर, वंदना, तरबदार सितार की उत्पत्ति, विकास एवं महत्त्व, कनिष्क पुब्लिशर्स नई दिल्ली, पृष्ठ 18.
4. कृष्णा, पं. सूरज, सितार: संगीत के भावनात्मक और आध्यात्मिक आयाम, जयपुर: संगीत संस्कृति प्रकाशन, पृष्ठ 120-145.
5. वागीश, डॉ. माया, भारतीय संगीत और सितार के वैश्विक प्रभाव, दिल्ली: संगीतशास्त्र विद्या, पृष्ठ 74-90.
6. लाहिरी, उस्ताद इनायत ख़ान, सितार वादन की संरचना और उसकी शैली, कोलकाता: रागेश्वरी प्रकाशन, पृष्ठ 50-70.
7. विलायत ख़ान, उस्ताद, सितार वादन की शास्त्रीय परंपराएँ और आधुनिक प्रयोग, वाराणसी: रागिनी प्रकाशन, पृष्ठ 87-108.

NEP–2020 के आलोक में मूल्य–आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों का सह–अस्तित्व

डॉ. दिनेश सिंह*

सारांश

वर्तमान अध्ययन राष्ट्रीय शिक्षा नीति-*2020* के संदर्भ में मूल्य-आधारित शिक्षा तथा *21*वीं सदी के आवश्यक कौशलों के सह-अस्तित्व का समालोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। समकालीन समाज में शिक्षा की भूमिका केवल अकादमिक उपलब्धि तक सीमित नहीं रह गई है, अपितु उससे अपेक्षा की जाती है कि वह विद्यार्थियों में नैतिक चेतना, सामाजिक दायित्वबोध, मानवीय संवेदनशीलता एवं लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास भी करे। इसी संदर्भ में *21*वीं सदी के कौशल, जैसे- समालोचनात्मक चिंतन, सृजनात्मकता, प्रभावी संप्रेषण, सहयोगात्मक व्यवहार, डिजिटल दक्षता तथा समस्या-समाधान क्षमता, विद्यार्थियों को वैश्विक प्रतिस्पर्धा और निरंतर परिवर्तनशील परिस्थितियों के लिए तैयार करते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-*2020* इन दोनों आयामों के समन्वय को शिक्षा की केंद्रीय धुरी मानती है। नीति में यह स्पष्ट किया गया है कि मूल्य-आधारित शिक्षा और आधुनिक कौशल परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। अध्ययन में यह प्रतिपादित किया गया है कि यदि पाठ्यक्रम, शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया तथा मूल्यांकन व्यवस्था में इन दोनों का संतुलित समावेश किया जाए, तो विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास संभव हो सकता है। इस प्रकार यह सह-अस्तित्व सामाजिक सद्भाव, नैतिक नेतृत्व तथा सतत राष्ट्र निर्माण की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन में 'गुणात्मक शोध प्रविधि' अपनाई गई है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020, प्रासंगिक शैक्षिक साहित्य, शोध पत्रों एवं रिपोर्टों का गहन विषयवस्तु विश्लेषण किया गया है, जिससे मूल्य-आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों के पारस्परिक संबंधों को समझा जा सके।

मुख्य शब्द : NEP-2020, मूल्य-आधारित शिक्षा, लोकतांत्रिक मूल्य, सर्वांगीण विकास, नैतिक चेतना, 21वीं सदी के कौशल।

प्रस्तावना

इक्कीसवीं सदी का वर्तमान सामाजिक एवं वैश्विक परिदृश्य तीव्र परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है, जहाँ ज्ञान, तकनीक और सूचना की भूमिका निरंतर बढ़ती जा रही है। ऐसे समय में शिक्षा से जुड़ी अपेक्षाएँ भी व्यापक हुई है। अब शिक्षा को केवल डिग्री या रोजगार प्राप्ति का माध्यम न मानकर व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व निर्माण से जोड़ा जा रहा है। यह स्थिति शिक्षा व्यवस्था के समक्ष यह प्रश्न रखती है कि वह विद्यार्थियों को केवल दक्ष कर्मी बनाए या फिर नैतिक, उत्तरदायी और संवेदनशील नागरिक के रूप में भी विकसित करे। इसी संदर्भ में मूल्य-आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों का सह-अस्तित्व एक महत्वपूर्ण विमर्श के रूप में उभर कर सामने आता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 भारतीय शिक्षा प्रणाली को एक नवीन दिशा प्रदान करती है, जिसमें शिक्षा के उद्देश्य को अधिक व्यापक और मानवीय स्वरूप में देखा गया है। यह नीति स्पष्ट रूप से इस बात पर बल देती है कि शिक्षा केवल बौद्धिक विकास तक सीमित न होकर नैतिकता, मानवीय मूल्य, सामाजिक उत्तरदायित्व

* असिस्टेंट प्रोफेसर, प्रेम चन्द्र कॉलेज, सोनी, रमईपुर, प्रयागराज। dineshsingh25yadav@gmail.com

तथा संवैधानिक आदर्शों के विकास का भी माध्यम बने। मूल्य-आधारित शिक्षा के अंतर्गत सत्य, अहिंसा, करुणा, सहिष्णुता, ईमानदारी तथा सामाजिक न्याय जैसे मूल्यों को विद्यार्थियों के जीवन में स्थापित करने का प्रयास किया जाता है, जिससे वे समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को समझ सके।

दूसरी ओर 21वीं सदी के कौशल वर्तमान युग की अनिवार्यता बन चुके है। तीव्र तकनीकी विकास, डिजिटलीकरण और वैश्वीकरण ने कार्य की प्रकृति को बदल दिया है। आज का विद्यार्थी तभी सफल माना जा सकता है जब उसमें समालोचनात्मक चिंतन, रचनात्मक सोच, प्रभावी संप्रेषण, सहयोगात्मक कार्यशैली, डिजिटल साक्षरता एवं समस्या-समाधान की क्षमता विद्यमान हो। इन कौशलों के अभाव में व्यक्ति आधुनिक चुनौतियों का सामना करने में स्वयं को असमर्थ पाता है। इस कारण शिक्षा व्यवस्था में इन कौशलों का समावेश समय की मांग बन गया है।

अक्सर यह धारणा देखी जाती रही है कि मूल्य-आधारित शिक्षा और आधुनिक कौशल परस्पर विरोधी है, किंतु राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 इस सोच को स्वीकार नहीं करती। नीति यह स्पष्ट करती है कि नैतिक मूल्य और आधुनिक कौशल एक-दूसरे के विरोध में न होकर, एक-दूसरे को सशक्त बनाते है। उदाहरण के लिए, समालोचनात्मक चिंतन यदि नैतिक विवेक से रहित हो, तो वह समाज के लिए हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार तकनीकी दक्षता तब तक सार्थक नहीं मानी जा सकती, जब तक उसका उपयोग मानवीय कल्याण के उद्देश्य से न किया जाए।

यह भी देखा गया है कि केवल कौशल-आधारित शिक्षा व्यक्ति को अल्पकालिक सफलता तो प्रदान कर देती है, परंतु उसके भीतर सामाजिक संवेदनशीलता और नैतिक उत्तरदायित्व का विकास नहीं हो पाता। वहीं केवल मूल्य-आधारित शिक्षा, यदि आधुनिक कौशलों से जुड़ी न हो, तो वह विद्यार्थियों को बदलती परिस्थितियों के अनुरूप सक्षम नहीं बना पाती। इस स्थिति में राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 एक ऐसे संतुलित दृष्टिकोण को सामने रखती है, जिसमें मूल्य-आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों का समन्वित विकास सुनिश्चित किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन इसी समन्वय की अवधारणा को आधार बनाकर किया गया है। इसमें यह समझने का प्रयास किया गया है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 किस प्रकार शिक्षा के मूल्यों और आधुनिक कौशलों के सह-अस्तित्व को बढ़ावा देती है। साथ ही यह भी विचार किया गया है कि शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया, पाठ्यचर्या संरचना तथा मूल्यांकन प्रणाली में इस समन्वय को व्यवहारिक रूप से कैसे लागू किया जा सकता है। इस प्रकार यह प्रस्तावना अध्ययन की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करती है तथा यह संकेत देती है कि मूल्य-आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों का सह-अस्तित्व वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के लिए न केवल उपयोगी है, बल्कि अत्यंत आवश्यक भी प्रतीत होता है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. **राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 की अवधारणा, उद्देश्यों एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना।**
2. **21वीं सदी के कौशलों की अवधारणा, उनके विभिन्न प्रकारों तथा वर्तमान शैक्षिक संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता का विश्लेषण करना।**
3. **राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में मूल्य-आधारित शिक्षा से संबंधित प्रावधानों की पहचान एवं विवेचना करना।**
4. **मूल्य-आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों के सह-अस्तित्व तथा उनके पारस्परिक अंतर्संबंधों का अध्ययन करना।**

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 : अवधारणा, उद्देश्य एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 भारतीय शिक्षा व्यवस्था को एक नवीन और व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करने का प्रयास करती है, जो देश की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर विकसित की गई है। यह

नीति ऐसे समय में सामने आई है, जब शिक्षा को केवल रोजगार या अकादमिक सफलता से जोड़कर देखना पर्याप्त नहीं माना जाता। नीति का मूल आग्रह यह है कि शिक्षा व्यक्ति के बौद्धिक विकास के साथ-साथ उसके नैतिक, सामाजिक और मानवीय पक्ष को भी समान रूप से विकसित करे।[1]

इसी कारण राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 शिक्षा को राष्ट्र के समग्र विकास का एक सशक्त माध्यम मानती है। इस नीति की अवधारणा बालकेंद्रित एवं सीखने वाले पर आधारित शिक्षा से जुड़ी हुई है। इसमें यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक शिक्षार्थी की रुचियाँ, क्षमताएँ और सीखने की गति भिन्न-भिन्न होती है। अतः शिक्षा व्यवस्था को लचीला, समावेशी और बहुविकल्पीय बनाया जाना आवश्यक है। रटंत पद्धति के स्थान पर समझ, अनुभव और व्यवहारिक ज्ञान पर बल दिया गया है, ताकि अधिगम की प्रक्रिया बोझिल न होकर स्वाभाविक और अर्थपूर्ण बन सके। यह विचार नीति की केंद्रीय भावना के रूप में उभर कर आता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के उद्देश्य बहुआयामी है। इसमें शिक्षा तक समान अवसर प्रदान करना, गुणवत्ता में सुधार लाना, विद्यालय त्याग दर को कम करना तथा सीखने के स्तर को सुदृढ़ बनाना प्रमुख है। साथ ही यह नीति ऐसे नागरिकों के निर्माण पर बल देती है जो केवल व्यावसायिक दृष्टि से दक्ष न हो, बल्कि नैतिक मूल्यों, सामाजिक उत्तरदायित्व और लोकतांत्रिक चेतना से भी युक्त हों।[2] इस संदर्भ में मूल्य-आधारित शिक्षा, जीवन कौशल और नागरिक बोध को शिक्षा का अनिवार्य अंग माना गया है, जो विद्यार्थी के चरित्र निर्माण में सहायक हो सके।

इस नीति की दार्शनिक पृष्ठभूमि भारतीय ज्ञान परंपरा, सांस्कृतिक विरासत और संविधान में निहित मूल्यों से गहराई से जुड़ी हुई है। नीति में यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल भौतिक प्रगति तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि व्यक्ति के आंतरिक विकास और सामाजिक संतुलन को भी साधना चाहिए। मानव गरिमा, सामाजिक न्याय, समरसता और राष्ट्रीय एकता जैसे मूल्यों को शिक्षा के माध्यम से सुदृढ़ करने की भावना नीति के दर्शन में निहित दिखाई देती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 की अवधारणा, उद्देश्य और दार्शनिक पृष्ठभूमि यह संकेत देती है कि भारतीय शिक्षा प्रणाली को अधिक मानवीय, मूल्यनिष्ठ और समकालीन आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करना आवश्यक है। नीति एक ऐसे संतुलित दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है, जहाँ परंपरा और आधुनिकता दोनों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है, जो शिक्षा को वास्तव में सार्थक और उद्देश्यपूर्ण बना सके।

21वीं सदी के कौशल : अवधारणा, प्रकार एवं प्रासंगिकता

इक्कीसवीं सदी का वर्तमान युग तीव्र गति से बदलती सामाजिक, आर्थिक तथा तकनीकी परिस्थितियों से चिह्नित है, जिसने शिक्षा की पारंपरिक अवधारणा को पुनः विचार करने के लिए विवश कर दिया है। अब यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जाने लगा है कि केवल विषयगत ज्ञान या अकादमिक उपलब्धि व्यक्ति को जीवन की जटिल चुनौतियों का सामना करने में पूर्णतः सक्षम नहीं बनाती। इसी संदर्भ में 21वीं सदी के कौशलों की अवधारणा सामने आती है, जो व्यक्ति के ज्ञान, चिंतन और व्यवहार के समन्वय पर आधारित है।[3] ये कौशल शिक्षा को जीवन से जोड़ने का कार्य करते है तथा व्यक्ति को निरंतर परिवर्तनशील समाज में सक्रिय भूमिका निभाने योग्य बनाते है।

21वीं सदी के कौशलों की अवधारणा इस विचार से जुड़ी हुई है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल सूचनाओं का संचय न होकर समझ, विश्लेषण और नवाचार की क्षमता विकसित करना होना चाहिए।[4] इस दृष्टिकोण में सीखने को एक सतत प्रक्रिया माना गया है, जिसमें व्यक्ति जीवन भर सीखता रहता है। आत्मनिर्भरता, लचीलापन, अनुकूलनशीलता और आजीवन अधिगम जैसे गुणों को इन कौशलों का आधार माना जाता है। इस कारण आधुनिक शिक्षा प्रणाली में विद्यार्थी को एक निष्क्रिय श्रोता के स्थान पर सक्रिय सहभागिता करने वाला शिक्षार्थी माना गया है।

21वीं सदी के कौशलों को सामान्यतः विभिन्न प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है। संज्ञानात्मक कौशलों के अंतर्गत समालोचनात्मक चिंतन, तर्कशक्ति, रचनात्मकता और समस्या-समाधान की क्षमता को शामिल किया जाता है, जो व्यक्ति को जटिल परिस्थितियों का विश्लेषण करने में सहायक होते है। सामाजिक कौशलों में प्रभावी संप्रेषण, सहयोग की भावना, नेतृत्व क्षमता तथा भावनात्मक बुद्धिमत्ता सम्मिलित है, जो सामूहिक कार्य और सामाजिक जीवन में संतुलन बनाए रखने के लिए आवश्यक माने जाते है। इसके अतिरिक्त तकनीकी कौशल, जैसे डिजिटल साक्षरता, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी का उपयोग तथा तकनीक के उत्तरदायी प्रयोग की समझ, वर्तमान डिजिटल युग में अत्यंत महत्वपूर्ण बन गए है।

इन कौशलों की प्रासंगिकता आज के वैश्विक परिदृश्य में विशेष रूप से दिखाई देती है। रोजगार के क्षेत्र में हो रहे निरंतर बदलाव, तकनीकी स्वचालन और नवीन कार्य संरचनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि केवल पारंपरिक ज्ञान के आधार पर भविष्य सुरक्षित नहीं किया जा सकता। 21वीं सदी के कौशल व्यक्ति को न केवल रोजगार के लिए तैयार करते है, बल्कि उसे सामाजिक रूप से जागरूक, नैतिक रूप से उत्तरदायी और आत्मविश्वासी नागरिक बनाने में भी सहायक होते है। इसी कारण शिक्षा के संदर्भ में इन कौशलों का विकास वर्तमान समय की एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया जा रहा है।

NEP-2020 में मूल्य-आधारित शिक्षा के प्रावधान

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में मूल्य-आधारित शिक्षा को भारतीय शिक्षा व्यवस्था की एक मूल धुरी के रूप में स्वीकार किया गया है। यह नीति इस स्पष्ट मान्यता पर आधारित है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास या रोजगारोपयोगी दक्षता तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसमें नैतिकता, मानवीय संवेदना तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास भी अनिवार्य रूप से सम्मिलित होना चाहिए। नीति यह स्वीकार करती है कि यदि शिक्षा प्रणाली मूल्य-विहीन हो जाएगी, तो समाज में असंतुलन, नैतिक विचलन और मानवीय संकट की स्थितियाँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसी कारण मूल्य-आधारित शिक्षा को औपचारिक रूप से नीति के विभिन्न प्रावधानों में समाहित किया गया है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में नैतिक, संवैधानिक और मानवीय मूल्यों के विकास पर विशेष बल दिया गया है। सत्यनिष्ठा, ईमानदारी, करुणा, सहिष्णुता, सामाजिक न्याय, परस्पर सम्मान और जिम्मेदारी जैसे मूल्यों को शिक्षा का अभिन्न अंग मानते हुए इनके समावेश की अनुशंसा की गई है। नीति का यह विश्वास है कि ऐसे मूल्य विद्यार्थियों को केवल ज्ञानवान नहीं बनाते, बल्कि उन्हें चरित्रवान और समाजोपयोगी नागरिक के रूप में भी विकसित करते है। इसके साथ ही नीति में लोकतांत्रिक मूल्यों, राष्ट्रीय एकता और विविधता में एकता की भावना को सुदृढ़ करने पर भी जोर दिया गया है।

मूल्य-आधारित शिक्षा के अंतर्गत राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में भारतीय ज्ञान परंपरा और सांस्कृतिक विरासत को विशेष महत्व दिया गया है। भारतीय भाषाएँ, साहित्य, कला, योग, नैतिक शिक्षाप्रद कथाएँ तथा ऐतिहासिक परंपराओं को शिक्षा के साथ जोड़ने का प्रयास किया गया है।[5] यह माना गया है कि विद्यार्थियों का अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ाव उनमें आत्मगौरव, आत्मविश्वास और नैतिक स्थिरता का विकास करता है। इसी संदर्भ में नीति में स्थानीय ज्ञान और अनुभवों को भी शिक्षा का हिस्सा बनाने की बात कही गई है।

नीति में विद्यालयी और शैक्षणिक वातावरण को मूल्यों के अनुरूप बनाने पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है। शिक्षक को केवल विषयवस्तु का संप्रेषक न मानकर मूल्य-प्रेरक, मार्गदर्शक और आदर्श के रूप में देखा गया है। यह अपेक्षा की गई है कि शिक्षक अपने आचरण और व्यवहार के माध्यम से विद्यार्थियों में नैतिक गुणों का विकास करे। साथ ही सामुदायिक सेवा, सह-पाठ्यक्रम गतिविधियाँ और सामाजिक सहभागिता को भी मूल्य-आधारित शिक्षा के प्रभावी माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है।[6]

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में मूल्य-आधारित शिक्षा के प्रावधान यह स्पष्ट संकेत देते है कि शिक्षा को मानवता, नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व से अलग नहीं किया जा सकता। नीति एक ऐसी संतुलित शिक्षा प्रणाली की परिकल्पना प्रस्तुत करती है, जो ज्ञान के साथ-साथ मूल्यों का विकास कर विद्यार्थियों को जीवन के प्रति एक सकारात्मक और उत्तरदायी दृष्टिकोण प्रदान कर सके।

मूल्य-आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों का सह-अस्तित्व एवं अंतर्संबंध

मूल्य-आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों का सह-अस्तित्व वर्तमान शैक्षिक संदर्भ में एक अत्यंत विचारणीय विषय के रूप में उभर कर सामने आया है। बदलते सामाजिक और तकनीकी परिवेश में यह स्पष्ट होता जा रहा है कि शिक्षा का स्वरूप केवल ज्ञान या कौशल प्रदान करने तक सीमित नहीं रह सकता। यदि शिक्षा केवल नैतिक मूल्यों पर केंद्रित होगी, तो वह विद्यार्थियों को व्यवहारिक जीवन की चुनौतियों से जूझने के लिए पर्याप्त रूप से तैयार नहीं कर पाएगी, वहीं यदि शिक्षा केवल कौशलोन्मुख होगी, तो उसमें मानवीय संवेदनशीलता और सामाजिक उत्तरदायित्व का अभाव दिखाई देगा। इसी कारण मूल्य-आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों के बीच संतुलन और सह-अस्तित्व को आवश्यक माना जाने लगा है।[7]

मूल्य-आधारित शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के चरित्र, आचरण और नैतिक विवेक का विकास करना होता है। इसके माध्यम से विद्यार्थियों में सत्यनिष्ठा, ईमानदारी, सहिष्णुता, करुणा, न्याय और सहयोग जैसे मानवीय मूल्यों का निर्माण किया जाता है। ये मूल्य व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तरदायी बनाते है और उसके निर्णयों को नैतिक आधार प्रदान करते है। दूसरी ओर 21वीं सदी के कौशल, जैसे समालोचनात्मक चिंतन, रचनात्मकता, प्रभावी संप्रेषण, डिजिटल दक्षता, सहयोगात्मक कार्य और समस्या-समाधान क्षमता, व्यक्ति को आधुनिक जीवन की जटिल परिस्थितियों से निपटने में सक्षम बनाते है। इन दोनों का संयोजन ही शिक्षा को पूर्ण और प्रभावी बनाता है।

इन दोनों के अंतर्संबंध को समझना वर्तमान समय में और अधिक आवश्यक हो गया है। आधुनिक तकनीक और नवाचार यदि नैतिक मूल्यों से रहित हो, तो वह समाज के लिए हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, डिजिटल कौशल का प्रयोग यदि केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए किया जाए और उसमें सामाजिक सरोकार न हो, तो उसका परिणाम नकारात्मक हो सकता है। इस संदर्भ में मूल्य-आधारित शिक्षा 21वीं सदी के कौशलों को दिशा और मर्यादा प्रदान करती है, जिससे उनका उपयोग मानव कल्याण और सामाजिक विकास के लिए किया जा सके।

वहीं दूसरी ओर 21वीं सदी के कौशल मूल्य-आधारित शिक्षा को व्यवहारिक रूप देने में सहायक होते है। नैतिक मूल्य तभी प्रभावी माने जा सकते है, जब उन्हें व्यवहार में उतारा जाए। संप्रेषण, नेतृत्व, सहयोग और निर्णय लेने जैसे कौशल व्यक्ति को अपने मूल्यों को सामाजिक और व्यावसायिक जीवन में लागू करने का अवसर प्रदान करते है। इस प्रकार दोनों के बीच परस्पर निर्भरता का संबंध स्थापित होता है।

कहना बिलकुल ठीक होगा कि, मूल्य-आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों का सह-अस्तित्व शिक्षा को अधिक मानवीय, संतुलित और उद्देश्यपूर्ण बनाता है। यह सह-अस्तित्व विद्यार्थियों को केवल सक्षम और कुशल ही नहीं बनाता, बल्कि उन्हें नैतिक, संवेदनशील और उत्तरदायी नागरिक के रूप में विकसित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जो वर्तमान समाज की एक वास्तविक आवश्यकता बन चुकी है।[8]

निष्कर्ष एवं सुझाव

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था को एक संतुलित और समावेशी दृष्टिकोण प्रदान करने का गंभीर प्रयास किया है, जिसमें मूल्य-आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों का सह-अस्तित्व केंद्रीय रूप से स्थान प्राप्त करता है। वर्तमान वैश्विक और तकनीकी परिवेश में यह स्पष्ट हो चुका है कि केवल कौशल-प्रधान शिक्षा समाज को दिशा देने में

असफल सिद्ध हो सकती है, यदि उसमें नैतिकता और मानवीय मूल्यों का अभाव हो। उसी प्रकार केवल मूल्य-केन्द्रित शिक्षा, यदि आधुनिक कौशलों से रहित हो, तो वह विद्यार्थियों को व्यावहारिक जीवन की चुनौतियों के लिए पर्याप्त रूप से सक्षम नहीं बना पाती। इस स्थिति में राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 द्वारा प्रस्तुत समन्वित दृष्टिकोण अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है।

अध्ययन के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि मूल्य-आधारित शिक्षा 21वीं सदी के कौशलों को नैतिक आधार और सामाजिक उद्देश्य प्रदान करती है, जिससे कौशलों का उपयोग केवल व्यक्तिगत उन्नति तक सीमित न रहकर सामाजिक कल्याण की दिशा में हो सके। वहीं 21वीं सदी के कौशल मूल्य-आधारित शिक्षा को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करते है, जिससे नैतिक मूल्य केवल सैद्धांतिक न रहकर जीवन के विविध क्षेत्रों में क्रियान्वित हो पाते है। इस प्रकार दोनों के बीच एक स्वाभाविक और परस्पर आश्रित संबंध स्थापित होता है, जिसे शिक्षा व्यवस्था में सुदृढ़ किया जाना आवश्यक है।

सुझाव स्वरूप यह कहा जा सकता है कि शिक्षा प्रणाली के प्रत्येक स्तर पर पाठ्यचर्या का निर्माण इस प्रकार किया जाए, जिसमें मूल्यों और कौशलों का समावेश एकीकृत रूप में हो। शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को अधिक अनुभवात्मक, गतिविधि-आधारित और जीवन से जुड़ा बनाया जाना चाहिए, ताकि विद्यार्थी सीखने की प्रक्रिया को केवल अकादमिक कार्य न मानकर सामाजिक और नैतिक उत्तरदायित्व से जोड़ सके। शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में भी इस तथ्य पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए कि शिक्षक स्वयं मूल्यनिष्ठ हों और आधुनिक शिक्षण कौशलों में भी दक्ष हो, जिससे वे विद्यार्थियों के समग्र विकास में प्रभावी भूमिका निभा सके।

इसके अतिरिक्त मूल्यांकन प्रणाली में भी सुधार की आवश्यकता प्रतीत होती है। मूल्यांकन केवल स्मृति और विषय ज्ञान तक सीमित न होकर विद्यार्थियों के व्यवहार, सहयोग की प्रवृत्ति, निर्णय क्षमता और नैतिक दृष्टिकोण को भी परिलक्षित करे। अंततः यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 का वास्तविक उद्देश्य तभी पूर्ण होगा, जब उसके प्रावधानों का प्रभावी और ईमानदार क्रियान्वयन किया जाए। तभी मूल्य-आधारित शिक्षा और 21वीं सदी के कौशलों का सह-अस्तित्व एक संवेदनशील, सक्षम और उत्तरदायी समाज के निर्माण में सार्थक योगदान दे सकेगा।

Reference:

1. Rai, Shivendu, Pallavi, Kumari & Singh, Navya. (2025). *Implications of NEP 2020 for Value-Based Education. International Journal of Advanced Mass Communication and Journalism,* 6(1), 57-63. DOI:10.22271/27084450.2025.v6.i1a.99. https://www.masscomjournal.com/archives/2025.v6.i1.A.99
2. Madhabi Barman. (2025). Significance of Value Education in the Context of NEP 2020. Academic PDF, TheAcademic.in. https://theacademic.in/wp-content/uploads/2025/05/64.pdf
3. Sharma, Divyangna. & Jain, Vinod (2025). Transforming Through NEP2020: A Vision for Skill-Based Experiential Learning. International Journal of Research – GRANTHAALAYAH, India. https://www.researchgate.net/publication/391663915_TRANSFORMING_THROUGH_NEP2020_A_VISION_FOR_SKILL-BASED_EXPERIENTIAL_LEARNING_Corresponding_Author
4. DR. Mariyappan & Other (2025). REIMAGINING NEP 2020 and Pedagogical Shifts. RCHubPublisher.https://rchubpublisher.com/wp-content/uploads/2025/06/NEP_01.pdf
5. Reimagining Education and NEP 2020. (2024). Bhatnagar, M. Bhatnagar PDF, Echetana.com. https://www.echetana.com/wp-content/uploads/2024/04/3.-A-E-Manish-Bhatnagar.pdf
6. NEP 2020 and Value-Based Education: A Study in the Indian Context. (2025). CPIJR PDF. https://cpijr.com/vol-2%20isssue-4/paper-15.pdf
7. NEP 2020 and Skill Development: Encouraging 21st Century Skills in Students. (2025). LearnQoch article. https://learnqoch.com/nep-2020-and-skill-development-encouraging-21st-century-skills-in-students/
8. REIMAGINING Higher Education for 21st Century: Vision of Multidisciplinary Education. (2025). ResearchGate. https://www.researchgate.net/publication/393003393_REIMAGINING_HIGHER_EDUCATION_FOR_21_ST_CENTURY_NEP_2020%27S_VISION_FOR_MULTIDISCIPLINARY_EDUCATION

आदिकालीन लोक साहित्य में अभिव्यक्त समाज और संस्कृति

मनीष यादव*

साहित्य और उसके समसामयिक परिवेश में गहरा अन्तर्सम्बन्ध होता है। प्रत्येक रचनाकार अपने समकालीन परिवेश से प्रेरित होकर अपनी सृजनात्मकता को मूर्त रूप देने में समर्थ हो पाता है। एक कलाकार अपने परिवेश से प्रभावित अनुभूतियों की संवेदनाओं को ही अपनी मानवीय भावना, संवेग, मूल्य और बोध के रूप में अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करता है। इसके सन्दर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का प्रसिद्ध कथन स्मरणीय हो जाता है, ''प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के रूप में परिवर्तन होता चला जाता है।''

समय सदैव गतिशील रहता है। समय अपनी इस प्रवृत्ति को समाज और संस्कृति के ऊपर भी आरोपित करता है। प्रत्येक समाज में समय के साथ-साथ उसकी संरचना और स्थितियों में परिवर्तन होता रहता है। यद्यपि कि इस परिवर्तन की गति इतनी धीमी होती है कि थोड़े समय में इसको नहीं देखा जा सकता फिर भी लंबी अवधि बीतने पर, घटित होने वाले परिवर्तनों को अवश्य महसूस किया जा सकता है। उदाहरणत: हम देख सकते हैं कि मानव अपनी उत्पत्ति से लेकर अब तक की यात्रा में कितने ही परिवर्तनों का साक्षी और हेतु रहा है। समय के बदलने के साथ ही मानवीय सभ्यताओं में भी बदलाव आया। मनुष्य अपनी आदिम अवस्था से उठकर विभिन्न जातियों, संप्रदायों, धर्मों तथा संस्कृतियों को अपनाता और छोड़ता रहा। इनमें से किसी ने किसी को विस्थापित किया तो किसी ने अन्य किसी जाति या संस्कति को प्रभावित किया। यदि बात राजनीतिक प्रभाव की हो तो उसका प्रस्फुटन युद्धों एवं सैन्य शक्तियों के रूप में तथा सामाजिक प्रभाव का दिग्दर्शन लोक के आचार-व्यवहार में होता है। सामाजिक सांस्कृतिक संरचना में बदलाव कभी शक्ति के द्वारा हुआ तो कभी आपसी मेल- मिलाप के होने से भी। इन्हीं सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं के परिवर्तन के साथ ही राजनीतिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों एवं परम्पराओं में भी परिवर्तन होता रहा।

यदि हम इतिहास में झांक कर देखेंगे तो पाते हैं कि राजनीतिक सत्ता समाज व संस्कृति के स्वरूप को निर्विवाद रूप से प्रभावित करती है। इसलिए यह जरूरी है कि किसी भी कालखण्ड के सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य को जानने व समझने के लिए उस काल विशेष के इतिहास का ज्ञान अनिवार्य हो जाता है। इतिहास के अध्ययनोपरान्त ही हम यह जान पाते हैं कि जब कोई शासक अपने राज्य का विस्तार करता था तो अपने साथ स्वयं की जीवन शैली, रीति-रिवाज आदि को भी ले जाता था। प्रसंगवश आदिकालीन लोक साहित्य में सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना को जानने के लिए तत्कालीन इतिहास, समाज, संस्कृति व साहित्य का मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है।

साहित्य और समाज के अन्तर्सम्बन्ध के विषय में विचार किया जाये तो ई॰ पू॰ से ही यह अत्यन्त ही विमर्श का मुद्दा रहा है। कविता/काव्य रचना समाज में क्या महत्व रखती है या किस प्रकार प्रभावित करती है आदि बातें तभी से वृहद स्तर पर आलोचना के केन्द्र में रही। ई ॰ पू॰ 4वीं शताब्दी के विश्व प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लूटो ने काव्य को अनुकरण का अनुकरण माना अर्थात् काव्य पूर्व सत्य की नकल है। इसे ही ध्यान में रखकर बात की जाये तो इसमें संदेह नहीं होना चाहिए कि कोई रचनाकार अपने साहित्य में ऐतिहासिक और तात्कालिक साक्ष्यों के पुट को भी प्रस्तुत करता है, भले ही उसमें काल्पनिक विचारों का मिश्रण होता है। उसे पूर्ण रूप से इतिहास न कहें फिर भी उसमें तत्कालीन समाज के सांस्कृतिक एवं सामाजिक विशिष्टताओं की छाप दर्ज होती ही है। युगीन परिस्थितियाँ किसी न किसी रूप में रचनाकार की चेतना को प्रभावित करती है। इस प्रकार हमारी ऐतिहासिक-

* शोधार्थी, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सांस्कृतिक स्थितियाँ साहित्य में दिग्दर्शित होती है तथा तत्कालीन स्थितियों की प्रमाणिक दस्तावेज बन जाती है। हम यह भी कह सकते हैं कि लोक-जीवन के रंग-बिरंगे जीवन चित्रों का तथा तत्कालीन परिवेश का मार्मिक और सजीव चित्रण अनायास ही साहित्य में हो जाता है।

किसी विशेष समय की ऐतिहासिक राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के प्रकाशन का आधार साहित्य को इसलिए भी कह सकते हैं क्योंकि "साहित्य की अनूठी विशेषता है कि वह हर युग की विशिष्टताओं को बहुत सच्चाई से अंकित करता है। आचार-व्यवहार के नितांत चित्रात्मक और अभिव्यंजनापूर्ण पहलुओं को जिलाए रखता है।"

कोई रचना जब अपनी रचना के लिए सन्दर्भों का चुनाव करता है तो निश्चित तौर पर यह ध्यान रखता है कि तत्कालीन समाज में ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथ्यों और वृत्तियों की अनुगूँज उनमें शामिल रहे। इसलिए समाज, संस्कृति, राजनीति व जन चेतना में बदलाव के साथ-साथ रचनाकार अपनी रचनाओं में इन परिवर्तनों को परिलक्षित करते हैं।

साहित्य में बीते हुए व वर्तमान समय की जो प्रस्तुति हम देखते हैं, उसके मूल में तत्कालीन परिवेश से निर्मित चेतना की भूमिका होती है और यही कारण है कि साहित्य में मनुष्य की ऐतिहासिकता, समसामयिक परिवेश, आचार-विचार, जीवन-शैली आदि प्रस्तुत होते हैं। इसलिए प्रत्येक समाज और संस्कृति के अध्ययन के लिए साहित्य का अध्ययन अति आवश्यक और अपेक्षित के होता है। इस संबंध में प्रो॰ सतीश चन्द्रा का मत है कि, समाज के आचार-विचार, चाल-ढाल, उत्थान - पतन का ज्ञान तत्कालीन साहित्य से भली भाँति हो सकता है और साहित्य एवं समाज के संबंधों के अध्ययन का अच्छा एवं आसान उपाय है कि साहित्यिक रचनाओं को सामाजिक दस्तावेज मानकर अथवा सामाजिक यथार्थ को कल्पित तस्वीर मानकर उनका अध्ययन-मनन किया जाय।"

इस प्रकार आदिकालीन लोक कवियों के साहित्य में परिलक्षित सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना को जानने के लिए सभी के समय का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिक संरचना पर प्रकाश डालना अवश्यम्भावी हो जाता है। 11- 12वीं शताब्दी से लेकर 15वीं शताब्दी के ऐतिहासिक युग के सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचना के अध्ययन का एक कारण यह भी है कि मध्यकालीन इतिहास का वर्तमान भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप को निर्मिति में अभूतपूर्व योगदान है। भारतीय समाज ने बाहर से आये हुए आक्रमणकारियों से बहुत कुछ ग्रहण किया तो कई बातों में उन्हें प्रभावित भी किया। हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों के आचार-विचार में अन्यतम विविधता होने पर भी समाज में एक का दूसरे पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। एक जाति की परंपराएँ, रिवाज, संस्कृति दूसरे में जा मिली। मुसलमानों ने होली खेलना शुरू कर दिया। यह दिखाता है कि मनुष्य समन्वयवादी प्रकृति का प्रतीक तो है ही साथ में सभ्यता और संस्कृति में एक दूसरे का पूरक भी। यह प्रमाणिक है कि, जब भी दो जातियाँ मिलती हैं, उनके संपर्क या संघर्ष से जिन्दगी की एक नई धारा फूट निकलती है जिसका प्रभाव दोनों पर पड़ता है। आदान-प्रदान की प्रक्रिया संस्कृति की जान है और इसी के सहारे वह अपने को जिन्दा रखती है।"

विद्यापति के समय चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी में भी समाज में सामन्ती विलासिता की प्रवृत्ति चरम पर थी। विद्यापति का समाज पितृसत्तात्मक समाज था। ग्राम स्तर पर ब्राह्मण वर्ग ही सबसे धनी होता था तथा समस्त जमीन उसके अधीन थी। कर्म का निर्धारण जन्म के आधार पर होता था अर्थात् जो जिस जाति में जन्म लेगा मरते दम तक उसी जाति में जीता था। मिथिला में जाति व्यवस्था को और मजबूत करने के लिए मिथिला के शासक (1324 ई0) में हरिसिंह के समय पंजी प्रथा का प्रचलन शुरू हुआ, जिसके दुःपरिणाम आज तक देखे जा सकते हैं। जाति शुद्धिकरण के नाम पर प्रत्येक व्यक्ति ने 25-25 विवाह करने शुरू कर दिए और समाज में बिकौआ प्रथा चल पड़ी।

समाज में स्त्रियों की दशा काफी खराब थी। विद्यापति ने भी स्त्री को 'अलप गेआनी' कह कर संबोधित किया है। समाज में सती प्रथा का प्रचलन था। बेमेल विवाह जोरों से हो रहे थे। राजा, सामन्त तथा जमींदार अपने लिए हरम रखते थे, जिसमें स्त्रियों का कठोर शोषण किया जाता था। समाज में वेश्यावृत्ति का भी प्रचलन था। शूद्र जाति की औरतें और मर्द के खरीद फरोख्त का काफी प्रचलन था। सामाजिक असमानता तो थी ही साथ में दास प्रथा भी लागू थी। मध्य युग में 'मचमुअलदार' नामक व्यक्ति दासों का हिसाब रखता था जो बाद में 'मजूमदार' हो गया। शूद्र बहुसंख्यक थे और बंधुआ मजदूरी का कार्य करते थे। विद्यापति के समाज में महासामन्ताधिपति, महासामन्त, महाराज, महामाण्डलिक महामण्डलेश्वर, रणक, राउत, ठाकुर इत्यादि उपाधियों को सामन्त वर्ग के लोग धारण करते थे।

ये भारतीय समाज में धर्म आधारित विभाजन से जाति आधारित विभाजन कहीं अधिक विध्वंसकारी सिद्ध हुआ था। इसी जाति आधारित विभाजन ने भारतीय समाज को पूरी तरह बाँट कर दिया। इस विभाजन के कारण लोगों में सामाजिक एकता का अभाव था। तुर्कों ने इस एक्यहीनता का लाभ उठाया तथा भारत में अपने अधिकारों को विस्तृत करते गये, लगातार होने वाले आक्रमणों तथा युद्धों से जहाँ एक ओर हमारा समाज राजनीतिक रूप से शिथिल हुआ तो वहीं दूसरी ओर जाति आधारित विभाजन भी हमारे पतन का कारण सिद्ध हुआ। क्योंकि निम्न वर्ग में इस जाति आधारित वर्ग भेद के प्रति रोष था। ब्राह्मण या पुरोहित प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सामान्य लोगों के जीवन को नियंत्रित करते थे। उन्होंने जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेकानेक संस्कारों के चक्र में लोगों को फँसाकर अपना आधिपत्य जमाये रखा। क्षत्रियों ने राजपूतों की उपाधि धारण कर ली थी। उन्होंने सत्ता अपने हाथों में ले ली। कृषि को छोड़ कर वैश्य वाणिज्यिक कार्य करने लगे। वहीं शूद्र या निम्न वर्ग के लोग उच्च वर्ग के लोगों को सेवाएँ प्रदान करने लगे। ब्राह्मणों ने वैश्यों तथा क्षत्रियों को वेदों व शास्त्रों की शिक्षा प्रदान तो की किन्तु शूद्रों को इससे वंचित रखा। उन्होंने शूद्रों को वेदों के पाठ को भी सुनने का अधिकार प्रदान नहीं किया। इसी समय भारतीय समाज में नारी समाज की स्थिति भी अधिक दयनीय थी। समय के साथ उसमें और भी गिरावट आती गई। समाज में उनकी उपस्थिति को महत्वपूर्ण नहीं माना जाता था। पुरुष प्रधान समाज ने उसे अपने अधीन रखा। अत: वह आश्रिता बन कर रह गई। वह जन्म से विवाह तक पिता पर आश्रित थी, उसके पश्चात् पति पर और पुत्र पर आश्रित रहने के लिए विवश थी। इतिहासकारों ने उस समय की भारतीय नारी की स्थिति से विदेशी नारियों की स्थिति को बेहतर माना है। इब्नबतूता ने अपनी पुस्तक श्किताबुर्रेहलाश् में लिखा है- ष्तुर्क स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता थी। ईरानी स्त्रियाँ पर्दा तो रखती थीं किन्तु मस्जिदों में एकत्र होती थी और वस्तुओं को खरीदने के लिए बाजारों में जाया करती थीं ऐसी ही स्थिति स्त्रियों के सम्बन्ध में हेरात, शीराज़ तथा मदीना में थी।'' प्रसिद्ध इतिहासकार 'कर्नल टॉड' ने भारतीय स्त्रियों की स्थिति का वर्णन करते हुए राजस्थानी स्त्रियों के विषय में लिखा है कि- दूसरे देशों की स्त्रियों को राजस्थानी स्त्रियों का भाग्य भयभीत कर देने वाली कठिनाइयों से भरा हुआ दिखाई पड़ेगा। जीवन के प्रत्येक चरण में मृत्यु उसे अंगीकार करने के लिए खड़ी है। जन्म के समय विष मुख होने पर अग्नि की लपटें उसका सुरक्षित जीवन, युद्ध की अनिश्चितता पर आधारित है, जो कभी भी बारह महीने से अधिक नहीं है।''

खुसरो के समय में समाज में धर्म और जाति व्यवस्था का बोलवाला था किन्तु उन्होंने विभाजित समाज में धार्मिक और वर्गीय भेद को भुलाया और कुछ समय के लिए ही सहीं दोनों में वैमनस्य को कम किया। इसके लिए उन्होंने समाज में प्रचलित 'छाता' वस्तु को चुना और उसे नारी के रूप में दिखाते हुए उन्होंने कहा -

''घुम घुमेला लहँगा पहिने एक पाँव से रहे खड़ी।
आठ हाथ है उस नारी के सूरत उसकी लगे परी।
सब कोई उसकी चाह करे हैं मुस्लिम हिन्दू छत्री।।
खुसरो ने यह कही पहेली दिन में अपनी सोच खरी।

खुसरो कालीन भारतीय समाज में हुक्का और पान का भी प्रचलन था। उस समय लोक में पान और हुक्का सत्कार तथा ठाठ-वाट की वस्तु मानी जाती थी। आदर सत्कार में इसका प्रयोग किया जाता था-

'हरा रूप है निज वह वात, मुख में धरे दिखावे जात
तीन वस्तु से अधिक पियारा, जान देय सबहीं नर नारा
एक सभा का रखे मान, चतुराई का ठाट पहिचान।''

यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि खुसरो ने अपनी रचनाओं के द्वारा अत्यंत सराहनीय कार्य किया। वे अपनी रचनाओं में तत्कालीन समाज की जो झलकियों प्रस्तुत करने में जितने सफल हुए शायद कोई अन्य कवि उतना सफल नहीं हुआ। डॉ प्रभाकर माचवे अमीर खुसरों की लोकप्रियता नामक लेख में लिखते हैं- ''अमीर खुसरो फारसी के शायर थे अरबी, तुर्की, बगैरह कई जवानों के आलिस फाजिल थे, दानिशमंद और सूफी थे। पर साथ ही वह हिन्दुस्तान के गाँव और दरबार की जिन्दगी को बहुत करीब से देखने वाले मौसिकी और मुसब्बिरी में दिलचस्पी रखने वाले और उसे अपने कलाम में जज्ब करने वाले, मुहावरों और कहावतों को टाँक लेने वाले अपने ढंग के अनोखे अकेले अदीव थे।''

मुल्ला दाउद के समकालीन वातावरण में आम जन जीवन की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं जान पड़ती।। मध्यकाल में राजनीतिक रूप से इस्लामी शासन स्थापित होने के बाद से ही समाज में हिंदू एवं मुसलमान वर्गों में खेमेबाजी शुरू हो गई। हिंदू समाज अपने मूल्यों एवं परंपराओं को लेकर सजग रहने लगा तो वहीं दूसरी ओर नए तरह के धार्मिक उन्माद से ग्रस्त मुस्लिम पंथी इस्लाम के प्रचार प्रसार पर जोर देना प्रारम्भ कर दिए। चूंकि तत्कालीन भारत में अथवा इस्लामी आगमन के समय भारत की अधिकांश जनता हिंदू परम्पराओं को मानती थी, अधिकांश बड़े-बड़े राजनीतिक एवं रसूखदार पदों पर हिंदू नियुक्त हुआ करते थे परंतु मुस्लिम सत्ता के स्थापित होने से हिंदुओं की राजनीतिक एवं सामाजिक सत्ता को आघात पहुंचा एवं दोनों पक्षों में टकराव की स्थिति उत्पन्न हुई। हिंदू जाति प्रथा में जटिलता की स्थिति बनी, पर्दा प्रथा एवं बाल विवाह जैसी कुप्रथाओं का प्रचलन हो गया, दास-दासियों को रखने की प्रथा बढ़ गई। डॉ प्रेमी राम शर्मा इस विषय पर अपना मत रखते हैं कि संपन्न वर्ग के मुसलमान हिंदू कन्याओं का क्रय करके अपने-अपने घरों में रखा करते थे। यहाँ तक की कुछ अमीर मुसलमान कुलीन वर्ग की हिंदू स्त्रियों का अपहरण करके अपने मनोरंजन के लिए भी रखा करते थे।''

हिन्दू समाज की सामाजिक व्यवस्था को जानने के बाद यदि हम मुसलमानों की सामाजिक स्थिति पर विचार करते हैं तो यह देखने को मिलता है कि जब मुसलमान भारत में स्थायी रूप से निवास करना शुरू कर देते हैं तो वे कई रूपों में हिंदू संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते। मुसलमानों से पूर्व भी यवन, शक, हूण आदि आक्रांताओं ने भारत पर आक्रमण किया किंतु वे यहां स्थायी रूप से रूक नहीं सके। इस्लाम इस मामले में इन सभी से अलग साबित हुआ। प्रारम्भ में इस्लामी आक्रांताओं के भी नियत में भारत से धन संपदा लूट कर वापस लौटना ही था, परंतु आगे चलकर वे यहाँ आए और स्थायी रूप से बसने लगे। उन्होंने न सिर्फ भारत में एक बड़े राजनीतिक क्षेत्र को केंद्रीय स्वरूप प्रदान करने का कार्य किया बल्कि भारतीय या हिंदू समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचना को भी बदल कर रख दिया। हिंदू एवं मुस्लिम संस्कृति के सहिष्णुतापूर्ण सहअस्तित्व को एकता का स्वरूप प्रदान करने के लिए मुल्ला दाउद भी अनेक सूफी कवियों की तरह प्रयास करते रहे। मुल्ला दाउद ने चंदायन के स्तुति खण्ड में हिंदू और मुसलमानी एकता की मुखालिफत करते हुए कहते हैं-

''हिंदु तुरक दुहुँ सम राखाइ। संति जो होइ दुहुन्ह कई भाषइ।
गउव सिंधु पंथ रेगावइ। एक घाटि दुइ दुहु पानि पियावइ।।''

हिन्दी साहित्य की दृष्टि से आदिकाल एवं ऐतिहासिक दृष्टि से भारत का मध्यकाल अनेक अमूलचूल परिवर्तनों का साक्षी एवं द्योतक रहा है। वैदिक काल से लेकर दसवीं शताब्दी तक कई युगान्तकारी राजनीतिक,

सामाजिक एवं सांस्कृतिक बदलाव हुए जो भारतीय परिवेश के भौगोलिक मानसिक, जैविक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुए। भारत में राजनीतिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से जो भी परिवर्तन हुए उनकी जानकारी हमें वेदों, उपनिषदों, आरण्यकों, पुराणों एवं ऐतिहासिक ग्रंथों से तो पता चलती है, साथ ही राजकीय अभिलेख एवं पुरातात्विक साक्ष्य महनीय स्रोत के रूप में हमें जानकारी देते हैं। इसके अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि भारतीय परंपरा में लोकाचारों एवं लोक श्रुतियों के द्वारा हमें जो सूचनाएँ एवं ज्ञान प्राप्त होते हैं, उससे पूरी दुनिया स्तब्ध और आश्चर्यचकित है। आदिम युग मे मनुष्य पशुवत जीवन जीता था तथा उसके बाद मानव जीवन मे लगातार क्रमिक विकास होता गया। सबसे पहले उसने भोजन, वस्त्र, घर एवं मनोरंजन के साधनों का निजात किया। फिर उसने कबीलाई एवं स्थायी जीवन जीना प्रारम्भ किया। उसके बाद तमाम राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं एवं रीतियों का प्रचलन एवं नियमन शुरू हो गया। इन युगान्तकारी परिवर्तनों का ज्ञान भी हमें ने लोक कलाओं के माध्यम से ही होता है। तब से लेकर अभी तक मनुष्य निरंतर अपने को आधुनिक बनाने का प्रयास किया। अनेक सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का उत्थान एवं अवसान होता रहा। वैदिक ग्रन्थों की रचनाओं से समाज का परिचालन नियमित एवं नियंत्रित होता रहा परंतु आवश्यकतानुसार उसमें सुधार एवं रूढ़िग्रस्तता को दूर करने के लिए उपनिषदों की रचना की गई। इसी प्रकार ब्राह्मण धर्म में अवरोधगामी मूल्यों के बढ़ जाने पर बौद्धों एवं जैनों ने समाज को गतिशील एवं समतामूलक बनाने का प्रयास किया। राजनीति में भी कबीलाई शासन व्यवस्था से शुरू होकर महाजनपद काल से होते हुए मौर्य एवं गुप्त काल में एक बड़े भू-भाग पर केंद्रीयकृत सत्ता की स्थापना होती चली गई। यह राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास निरंतर पांचवीं - छठवीं शताब्दी तक चलते रहे। इन बदलावों की जानकारी हमें लोक ग्रन्थों एवं लोक श्रुतियों से बहुतायत मात्रा में मिल जाती है। भारतीय इतिहास में बौद्ध धर्म का उदय पूरी तरह से लोकाश्रित रहा है और यहाँ तक की लोक द्वारा उपयोग की जाने वाली भाषा पालि ने ही इसे जन-जन का मत भी बना दिया।

6वीं-7वीं शताब्दी के बाद से भारतीय इतिहास में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक आदि के स्वरूप एवं संरचना में परिवर्तन की आहट शुरू होने लगी थी। राजनीतिक रूप से पश्चिमी मुस्लिम आक्रमणकारियों का हमला शुरू होने लगा था, सामाजिक रूप से वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत समाज में विघटन शुरू हो गया था, आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से लोगों के आचार-व्यवहार में, रहन-सहन में, रोजगार में, धार्मिक अनुष्ठानों में परिवर्तन होने लगा था। सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही सिद्धों ने कमजोर होती धार्मिक प्रवृत्तियों को अपने तरीके से संचालित करके समानता को बढ़ावा देने का प्रयास किया। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के आस-पास नाथ सम्प्रदाय ने सिद्धों द्वारा उपजी विकृतियों को दूर करने का प्रयास किया। ये सभी की सभी परंपराएँ निर्विवाद रूप से लोक से ही संचालित हो रही थी।

परमाल रासों में अल्हैतों के वाणी से तत्कालीन 23 युद्धों का वर्णन सुनने को मिलता है। भले ही इसकी कथा के मूल कलेवर में समय - समय में परिवर्तन होता रहा परन्तु इसकी मूल प्रति में तत्कालीन ऐतिहासिकता के पुट प्रत्यक्ष विद्यमान है, जिससे सामाजिक दशा, सांस्कृतिक चेतना एवं धार्मिक परिस्थितियों की सही-सही जानकारी पता चलती है। इसके समस्त चरित्र अद्भूत एवं अनुकरणीय शौर्यता के भाव का भान कराते हैं। आल्हा खण्ड में वैसे तो वैदिक धर्म के अनुष्ठानों की प्रमुखता के रूप में शिव, शारदा देवी आदि की वंदना की प्रधानता है, तो इसके साथ ही इसके कुछ अंशों में गोरखनाथ एवं सिद्धों की उपासना विधियों का आभास भी मिल जाता है। एक शांतिप्रिय जीवन, न्याय व्यवस्था एवं सामंती व्यवस्था को आदर्श रूप में स्थापित करने हेतु आल्हा ऊदल के त्याग, शौर्य एवं परोपकार के चारित्रिक गुणों को संपूर्ण काव्य का ध्येय माना गया है। अत: यह कहा जा सकता है कि बुंदेली समाज की संस्कृति की सशक्त अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करने में लोक काव्य आल्हा खण्ड का महत्व अविस्मरणीय है। 12वीं शताब्दी के बुंदेलखण्ड की ऐतिहासिकता (राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक) का परिचय कराने में

आल्हा खण्ड जितना सफल है उतनी अन्य कोई रचना नहीं। अब्दुर्रहमान कृत संदेश रासक मूलत: प्रेमपरक और धार्मिकेत्तर लोकरचना है। सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से इसकी भमिका महत्वपूर्ण है। आजीविका का संकट और उसके बाद परिवार से दूर होकर जीवन बिताने के कातर दृश्य का वर्णन संदेश रासक में स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसी तरह पूर्व क्षेत्र की सामाजिक स्थिति को जानने में विद्यापति की पदावली की भूमिका को अनदेखा नहीं कर सकते। मिथिला सहित पूरे बिहार क्षेत्र की सामंतवादी व्यवस्था का चित्रण विद्यापति के यहाँ प्रत्यक्ष है और उसके साथ ही मुस्लिम संस्कृति के विकृतियों का उल्लेख भी पदावली में स्पष्ट है। सामाजिक और सांस्कृति दृष्टि से मुल्ला दाऊद कृत चंदायन का अवलोकन करने पर हमें स्पष्टतया तत्कालीन समाज में व्याप्त अनेक धर्म, मत एवं सम्प्रदाय को प्रचलित देखते हैं। इसके साथ लोक धर्म के रूप में समन्वित संस्कृति के रूप में सूफियों एवं सन्त समाज का वर्ग भी दिखाई देता है। आर्थिक दृष्टि से भी तत्कालीन कृषि व्यवस्था एवं राजस्व व्यवस्था का बखूबी वर्णन भी चंदायन में बहुतायत मिल जाते हैं जिससे कि पूर्व मध्यकालीन इतिहास की राजनीति के साथ ही सामाजिक एवं आर्थिक जीवन का यथार्थ स्थिति का पता चलता है। 13वीं, 14वीं शताब्दी में अन्दरूनी उठापटक, विज्ञान, शिक्षा आदि का अवलोकन खुसरो के यहाँ प्रचुर मात्रा में मिलता है जिससे लोगों की जीवन शैली एवं वैचारिकी की जानकारी मिलती है। खुसरो की हिन्दी कविताएँ लोक मनोरंजन के लिए अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई, जिसने अनेक प्रस्तुतियों से जन सामान्य का चित्र खींचा। समाज में होने वाली पारिवारिक कलह एवं खींचतान की व्याप्ति राजपरिवार से लेकर सामान्य परिवार तक में अवश्य ही देखी जा सकती है। इसका चित्रण राजस्थानी प्रेमपरक लोक काव्य 'ढोला मारू रा दूह' में देखा जा सकता है जिसमें प्रेम की महत्ता, पारिवारिक कलह, बाल-विवाह आदि मुद्दों को कवि ने अपनी रचना का मूल विषय बनाया।

अत: हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त विवेचन में हमने उल्लिखित लोक रचनाओं में पूर्वमध्यकालीन भारतीय ऐतिहासिकता के सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं का सम्यक अवलोकन करके तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के विषय में जानने का प्रयास किया। इन सभी रचनाकारों का मूल उद्देश्य विविध धर्मों, जातियों, सम्प्रदायों, भाषाओं एवं मतानुयाईयों के लोगो के बीच प्रेम और समन्वय स्थापित करना था। उनके ऊपर राजनीतिक दबाव बहुत थे परन्तु उन सबने अपने व्यापक दृष्टिकोण के माध्यम से लोक मानस का संपूर्णता के साथ चित्र खींचा।

संदर्भ सूची

1. हिंदी साहित्य का बृहद इतिहास, भाग 16
2. लोक साहित्य के प्रतिमान, डॉ. कुंदन लाल, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़
3. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति का विशेषांक, भाग 47, अंक दो, हिंदी साहित्य सम्मेलन
4. भारतीय लोक साहित्य, डॉ. श्याम परमार
5. हिंदी अनुशीलन वर्ष चार अंक चार में डॉ. सत्यव्रत सिन्हा का आलेख
6. लोक साहित्य सिद्धांत और प्रयोग, डॉ. श्रीराम शर्मा
7. लोक साहित्य की भूमिका, डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय,
8. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल
9. हिंदी साहित्य का आदिकाल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
10. आल्हा खंड, संपादक आशा गुप्त
11. मध्यकालीन भारत, सतीश चंद्र

संजीव के उपन्यासों में आदिवासियों के जीवनः स्थिति एवं संघर्ष

शुभम सरोज*
डॉ. प्रद्युम्न कुमार पासवान**

प्रस्तावना–

स्वतंत्र भारत के पहले का कथा साहित्य यथार्थ परिवेश से एकदम भिन्न रहा है। यही कारण है कि जो देश की आजादी के बाद का साहित्य की विषय बहुत व्यापक एवं संघर्षपूर्ण के साथ– साथ यथार्थ के धरातल से एकदम जुड़ा हुआ मिलता है। आजादी के बाद के कथाकारों में सबसे खास बात यह थी कि वह अपनी लेखनी के सहारे समाज में फैले उन तमाम तरह की कुरोतियों, भ्रष्टाचार को आधार बनाते हैं, जो समाज में व्याप्त व्यावस्थाओं को खोखला बनाने का कार्य करता है। वे अपनी लेखनी को थोड़ा वैज्ञानिकपन और तर्क के साथ पेश करते हुए दिखे है। इसी समय समकालीन कथा साहित्य रूपी आकाश में चाँद के रूप में संजीव जी की लेखनी देखने को मिलती हैं, जिनकी लेखनी में समाज के ऐसे वर्गों पर चले जो समाज से एकदम उपेक्षित और मुख्यधारा से कटे हुए लोग थे। हम उनके उपन्यासों की बात करें तो उनके उपन्यास में दलित, पिछड़ा, गरीब, मजदूर की साथ–साथ आदिवासी के जीवन संघर्ष एवं उन पिछड़ी जनजातियों के दुख–दर्द का साक्षात दर्शन होते हैं।

कथाकार संजीव समकालीन कथा साहित्य को एक नया आधार प्रस्तुत करते हैं, जिसमें समाज की हर छोटे–बड़े पहलू को बड़ी बारीकी से देख कर मूल्यांकन करते और समझते हैं। वे अपने उपन्यासों में पिछड़ी जनजातियों एवं आदिवासी समुदायों के जीवन संघर्ष एवं औद्योगिकीकरण की वजह से उनको मूल भूत आवश्यकताओं के लिए संघर्ष करना तथा अपनी मातृभूमि से पलायन एवं दयनीय स्थिति का वर्णन करते हैं। हमारा पूरा का पूरा भारतीय समाज सामंतवाद, सेठ, साहूकार एवम् पूंजीपतियों के चंगुल में इस प्रकार जकड़ा हुआ है कि मजदूर वर्ग हो या आदिवासी समुदाय या कोई भी वर्ग वह सब उसी में पिस रहे हैं, इसके फलस्वरूप भारत सरकार अगर चाहकर भी उसके हित में कोई कार्य करती है तो वह उन तक कभी पहुँच ही नहीं पाती है।

कथाकार संजीव का सम्पूर्ण कथा साहित्य में पूरा का पूरा आदिवासी समुदाय पूँजीपति, सामंतवादी दरिंदों पर खुल कर लेखनी चलाते है, जो जल, जंगल, जमीन के दुश्मन है वो पूरी प्राकृतिक व्यवस्था को नष्ट कर देना चाहते हैं, वे सामंतवादी ही नहीं बड़े–बड़े कारखानों के मालिक, पूँजीपति वर्ग के लोग हैं जो पूरा का पूरा जंगल को खा रहे हैं और आदिवासी समुदाय अपने जंगलों को छोड़कर पलायन होने के लिए मजबूर होते जा रहे हैं। यही कारण वह समुदाय आत्म हत्या करने के लिए मजबूर होते जा रहे हैं। वह समाज चाहकर उनके खिलाफ़ कोई आवाज भी नहीं उठा पाते है, क्योंकि ऊपर से नीचे तक पूरा–पूरा शासन– प्रशासन भ्रष्ट हो चुका है। हमारा देश जितनी बड़ी बुलंदियों को छू रहा है, उतना ही उनके नीचे आम आदमी कुचले जा रहे हैं। इन्हीं विडंबनाओं का चित्रण संजीव के उपन्यासों में देखने को हम को मिलता है।

हमारा देश संवैधानिक देश है जिसमे सबको मूलभूत आवश्यकताओं को अर्जित करने का संवैधानिक अधिकार है, लेकिन आज के इस पूँजीवादी समाज को देखे तो वह आदिवासी जन समुदाय के उनके अधिकारों से कोसों दूर रखे हुए हैं। वह बदहाली भरी जीवन जीने के लिये एवं अपने घर परवेश से पलायन होने के लिए मजबूर हैं। आदिवासी जन समुदाय की स्थिति– परिस्थिति में उनकी आर्थिक विसंगति के कारण उनका विकास नहीं हो पा रहा है। इनके जंगल, जमीन को अवैध रूप से कब्जे में कर रहे पूंजीपति दिनों–दिन अमीर हो रही है, लेकिन उसी पर्यावरण के साथ जीने–वाले आदिवासी आर्थिक तंगी से मर रहे हैं। इसी संदर्भ में संजीव कहते हैं कि–**"मुझे शाल के पत्तों में भुनी या तली मछलियाँ देकर मताई मिट्टी की हांडी से सीझा पसाँवन युक्त भात अल्यूमिनियम की पिचकी थाली में निकाल देती। काका तब तक प्याज**

* शोधार्थी (असि. प्रोफेसर), हिंदी विभाग, जनता पी०जी० कॉलेज रानीपुर, मऊ (उ०प्र०)
** शोध निर्देशक (असि. प्रोफेसर), हिंदी विभाग, डी.सी.एस.के. पी०जी० कॉलेज, मऊ (उ०प्र०)

अदरक ले आते। पत्थर की रकाबी में गोगुला केकडा और ककडी परसी जाती और पति–पत्नी एक ही थाली में खाने बैठ जाते।''

आदिवासी समुदाय जो हमारी भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को संरक्षित एवं बचाए हुए आज भी जिंदा है, लेकिन वह समुदाय आज अपनी स्थिति के चलते दो वक्त की भोजन के लिए मजबूर है वह अन्य तो दूर घास–फूस खाने के लिए मजबूर हैं। सरकार द्वारा जो शोषण उन समुदाय का हो रहा है उसके बदले में यदि मुआवजा भी मिलता है तो ऊपर से नीचे तक बैठ के सरकारी दलाल खा रहा हैं। यही स्थिति रही तो यह समुदाय का अस्तित्व एकदम खत्म होने के कगार पर आ जाएगा। जिस प्रकार जंगलों को काटकर बड़े–बड़े कारखानों का निर्माण कार्य हो रहे हैं। उसके दुष्प्रभाव जंगल, जमीन पर पड़ रहे हैं वह वर्तमान एवं भविष्य के लिए घातक है। आदिवासी इन सबके बावजूद उनको मूलभूत आवश्यकता शिक्षा, रोजगार ,रोटी, कपड़ा, मकान आदि से वंचित हैं। हम संजीव के उपन्यासों का अध्ययन करते हैं तो देखते है की उनके उपन्यासों में आदिवासी को जीवन एवं उनके जीवन संघर्ष को स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, इनका साहित्य समकालीन कथा साहित्य का यथार्थ है। कथाकार संजीव की लेखन की एक बड़ी भारी विशेषता रही है कि वे हमेशा अपने लेखन में एक अन्वेषी की तरह नए विषय की तलाश करते हुए दिखाई देते हैं, कभी अपने विषय का दोहराव नहीं करते है। वे मुख्य रूप से कहानीकार और उपन्यासकार रूप में कथा साहित्य में एक तारे की तरह विद्यमान हैं। वे कुल तेरह कहानी संग्रह, बारह उपन्यास, दो बाल उपन्यास, एक नाटक, एक यात्रा वृत्तांत और दो चित्रपटों की रचना की है। उन्होंने अपनें उपन्यास में आदिवासी निम्नवर्गीय, मजदूरो, उपेक्षित, शोषित आदि के जीवन का समस्याओं का बखूबी चित्रण करते हैं, जिनका विवरण क्रमशः निम्नवत हैं–

प्रमुख आदिवासी उपन्यास–

'धार'– इस उपन्यास में झारखंड के आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र के संथालों समुदाय के जीवन पर आधारित है। इसमें कोयला खानों के अवैध खनन के साथ–साथ उन आदिवासियों का शोषण तथा उनके झूठा सपना दिखाकर ठेकेदार उनकी जमीनों पर कब्जा जमाकर बड़ी–बड़ी फैक्टरी खोलते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप आदिवासियों की बस्तियों में प्रदूषण, जहरीली गैस आदि का सामना करना पड़ता है, जो पूरे परिवेश को जहरीला बना देता है। इसी के चलते विस्थापन जैसी अनेकों समस्याओं को लेकर यह उपन्यास लिखा गया है।

उपन्यास में नायिका मैना जो एक तेजाब फैक्टरी के खिलाफ आंदोलन करती है, जिसके कारण पूरा संथाल परगना का पूरा वातावरण प्रदुषित हो चुका है और पूरी जमीने बंजर हो चुकी है। इसी के विरोध के चलते मैना जेल तक जाती है। मैना का पिता टेगर और पति फोकल जो उसी पूंजीपतियों के लिए काम करते हैं और अंत में मैना को अपना घर भी त्यागना पड़ता है फिर वह अपना जीवन रेल के डिब्बे में गुजारती हैं। उसका साथ उसकी माता के अन्य आदिवासी समाज देते है– **"हम का बोलें बेटी, पुलिस– गौरमिंट सब उन्हीं का है, उनसे लड़ पाना आसान नहीं। तुम्हारा मरद भी तो पकड़ा गया– कहाँ कर सकी तुमइ?"**

उपन्यास में विषैले वातावरण के चलते पूरा का पूरा गांव विस्थापित होने के कगार पर आ गया है। धीरे–धीरे पूरा गांव उजाड़ने लगता है, कथा का पात्र अविनाश शर्मा जेल से छूटकर गांव की हालत देखता है तो उसको बहुत बुरा लगता है, फिर इन सब समस्याओं के समाधान हेतु मैना और शर्मा एक योजना बनाते हैं, जिसमें कोयले की खान में कोई मालिक न हो सब मालिक हो यह योजना काफी हद तक सफल भी होते हैं। जो लोकतंत्रात्मक व्यवस्था से परिपूर्ण होता है। अंत में यह खनन पूंजीपतियों को रास नहीं आता है और व्यवस्था से मिलकर जन खदान का अस्तित्व मिटाने हेतु उस पर बुलडोजर चलाया जाता है। इसका विरोध करते हुए मैना की बड़ी बेरहमी से हत्या कर दी जाती है, लेकिन पूंजीपतियों के हर षड्यंत्र को सफल नहीं होने दिया जाता है। इस उपन्यास में मैना के साथ तमाम आदिवासियों को अपने जीवन के लिए पग–पग कर अपने शोषण के खिलाफ किसी प्रकार का संघर्ष करना पड़ता है– **"न दिन है न रात, दोनों की दलहीज पर संथाल परगना का पूरा नंगा इलाका, घायल घर्राते सूअर की तरह पड़ा है। नंगी अधनंगी पहाड़ियों, जहाँ–तहां सोए पड़े मुर्दो से लोग''**

उपन्यास नायिका संघर्षों की धार के रूप में कथा में उपस्थित होती, नायिका की हत्या होने के बाद हजारों की संख्या में इस संघर्ष को धार देना हेतु हजारों मैना उठ खड़ी होती है जिसके फलस्वरूप यह आंदोलन सफल रहता है।

''पांव तले की दूब''–

यह उपन्यास आदिवासियों के जीवन संघर्ष और उनके जीने की राह में आए बाधा को उकेरा गया है। यह उपन्यास झारखंड के मोझिया नामक गांव में बसे आदिवासी जो अपनी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा कर रहे हैं, इनके जीवन मैं दोहरा संघर्ष है एक तो वह अपना पहचान की रक्षा कर रहे हैं और दूसरा उन पूंजीपतियों से जो उनकी जर जमीन सब हथिया लेना चाह रहे हैं। बदले में मुआवजा तो दूर इनको वहाँ से पलायन होने के लिए भी मजबूर किया जाता है। इस छीनाझपटी दुनिया में भ्रष्ट शासन भी इन पर ध्यान नहीं दे रहे हैं और न देना चाह रही है विस्थापन के चलते न सरकार इनको रहने को न मकान, न शिक्षा और न रोजगार दे पा रहे है, मजबूरन इनकी हालत आत्महत्या तक पहुँच जाती है– **"आप क्या समझते हैं, अलग झारखंड राज्य मिल जाने मात्र से सारी समस्याएं हल हो जाएंगी? कहीं तो ऐसा नहीं कि भारत की आजादी की तरह स्वार्थी, शोषक तत्व, कुलक और शिक्षित वर्ग आगे बढ़कर उसका लाभ हथिया ले जाएगा, ये दीन–हीन लोग जस के तस पड़े रहेंगे।''**

आदिवासी लोगों की हालत इतनी खराब है कि सरकार द्वारा उनको कोई सुविधा नहीं मिल पाने की वजह से वे तमाम तरह के आडंबरों में फंसे रहते हैं और अगर एकाध लोगों को आरक्षित कोटे से नौकरी मिल भी जाए तो वे ज्यादा दिन तक वहाँ टिक नहीं पाते हैं। उपन्यास में सारी घटनाओं में जमीदार उनकी जमीनों पर कब्जा जमाकर उनके पूरे परिवेश को जहरीला बनाने का कार्य करते है, पानी जहर बन चुका है लेकिन उसको पीने को मजबूर हैं, यह उपन्यास संजीव जी सबसे प्रिय उपन्यास है।

उपन्यास में आदिवासियों हर तरह से चूसा जा रहा है। उनको दिन– रात कारखानों में काम करना पड़ता हैं। प्लांट से बिजली होने के बावजूद भी उनके घर अंधेरे में रहना पड़ता है और परिणामस्वरूप उसके हिस्से में हत्या लिखा होता है। वे तमाम तरह के यूनियन बनाते हैं वे उन्हें पूंजीपतियों को रहमोकरम ही पर चलते हैं– **"किसान की हत्या पर लाल और हरे झंडे की यूनियन–स्ट्राइक की तो इंटक ने तुड़वा दीस अब अजीत सिंह की हत्या पर इंटक स्ट्राइक करवाई तो लाल और हरे झंडे की यूनियन के लोगों ने इस स्ट्राइक न होने दें। देखें यह रस्साकसी कहाँ जाकर खत्म होती है।"**

अगर देखा जाए तो यह उपन्यास जिन आदिवासियों की समस्याओं पर केंद्रित हैं। यह किसी एक आदिवासी मजदूर के गांव की नहीं है, यह भारत के समस्त मजदूर वर्ग की हालत है यह उपन्यास संपूर्ण भारत के प्रतिनिधित्व करता है।

''जंगल जहाँ से शुरू होता है''–

इस उपन्यास में आदिवासी समाज में व्याप्त शोषण, उत्पीड़न, दरिद्रता इसके साथ व्याप्त समाज में गुंडाराज, पुलिस–अत्याचार तथा राजनेताओं द्वारा शोषण, मिली भगत का मजूदर वर्ग का शिकार होना, सामाजिक असामानता, हत्या जैसे अपराध, बलात्कार आदि जैसी अनेकों जीवंत ज्वलंत मुद्दों को बारीकी से उकेरा गया है।

उपन्यास की कथावस्तु में बताया गया है कि आदिवासी लोग जंगलों में विभिन्न खुंखार जानवरों का सामना करते है, लेकिन बात यह है कि यह जानवर सिर्फ जंगलों में ही नहीं पाया जाते बल्कि ये हमारे यहाँ आस–पास किसी भी रूप में व्याप्त है जिससे हमको हमेशा बचकर रहना चाहिए।

कथावस्तु बिहार के पश्चिमी चंपारण में कुख्यात मिनी चम्बल की संस्कृति का तानाबाना का विश्लेषण किया गया हैं कहानी में हम पुलिस और डाकू को एक दूसरे के दुश्मन से कथा में प्रवेश करते हैं, लेकिन कुछ समय बाद पता चलता है कि जो डाकू और पुलिस न्याय और अन्याय दोनों कि आपसी मिलीभगत के कारण बिसराम बहू की बिल्कुल पता नहीं चलता कि उसका रेप कौन किसने किया वह पुलिस या डाकू कहते–कहते रह जाती है।

कथा में एक तरफ इमानदार, प्रगतिशील सोच रखने वाला कुमार है तो दूसरी तरफ काली नामक पात्र जो पढ़ा लिखा होता है लेकिन अपने ऊपर अन्याय–अत्याचार के चलते उसको डाकू बनना पड़ता है। कालू किस प्रकार से अपने परिस्थिति वश एक पढ़ा लिखा मध्यवर्गीय परिवार में जन्मा डाकू बनता है। इन सारी प्रक्रियाओं का अध्ययन किया गया है। कहानी में दिखाया गया था कि जो कालू नामक डाकू है, वह बचपन से कितनी सादगी से रहता था। यहाँ तक कि अपने शादी की रात में भी किताब रख के जाता है और हाथ पर हाथ रखे बैठा रहता है। एक सामान्य मध्यवर्गीय परिवार का लड़का तभी डाकू बनता है जब वह अपने ऊपर अत्याचार सहन नहीं कर पाता है। सत्ता में बैठे लोगों का काम जब डाकू करने लगे तभी– **"यही तो असल ट्रैजिडी है, कुमार साहब, जो काम पुलिस और प्रशासन को करना चाहिए, उसे डाकू और दादा लोग**

कर रहे हैं। पब्लिक भी अब थाने कचहरी नहीं जाती, इन्हीं के पास जाती है। काली ने जो किया, उसका एक पहलू भी है। परशुराम का सारा वृतांत कह सुनाया।''

यह उपन्यास आधुनिक युग का सबसे सशक्त लोकप्रिय उपन्यास है, जिसको आदिवासी समाज के संपूर्ण दुःख–दर्द, अन्याय–अत्याचार को बखूबी से वर्णन करता है– **"हमारा तो हर तरीके से मौत लिखी है। जमींदार से, डाकू से, देव पिता से, भूत–भवानी से, पुलिस–लेखपाल से इसी के चलते काली डाकू बनने पर विवश होता है।"**

उपन्यास में जो निम्न तबके के लोग हैं उनके जीवन की भयावह विसंगतियो का वर्णन किया गया है।

कथाकार संजीव हमेशा अपने लेखन में नए–नए विषय, नए–नए विचार के साथ–साथ सामाजिक–सांस्कृतिक विघटन तथा आमजन के पीड़ा को अपनी लेखनी में उतारते दिखे हैं। जो विषय और शिल्प की दृष्टि से पाठकों के लिए अत्यंत उपयोगी रहा है। इसलिए संजीव जी हमेशा शोध के विषय बने रहे हैं। उनकी लेखन कला एकदम जमीनी स्तर से जुड़ा हुआ होने के कारण या यूं कहें तो कथाकार अपने जीवन आस–पास परिवेश की दशाओ को जो देखा परखा उसी को अपनी लेखनी में एकदम यथार्थ पूर्वक रचते हैं।

संजीव की उपन्यासों का केन्द्रीय स्वर समस्त प्रकार के भेदभाव का विरोध तथा उनका सपना वर्ण विहीन एवं वर्ग विहीन समाज की स्थापना है। इनके उपन्यासों का परिवेश निम्न एवं मध्य वर्ग तक सीमित है। संजीव के अधिकतर पात्र दलित – शोषित और वंचित समाज से ताल्लुक रखते हैं। वे समाज द्वारा बिना अपराध के दंडित किए जाते हैं। संजीव के पात्र पाठक को आनंद, खुशी, आत्मसंतुष्टी नहीं देते बल्कि पाठक के मन में एक घुटन, एक बैचेनी, एक क्षोभ और तनाव पैदा करते हैं। यह घुटन व्यवस्था के प्रति विरोध, किन्तु कोई सामूहिक प्रतिरोध न होने और इसे न बदल पाने के कारण है– **"मेरा समकाल बेरोक–टोक बढ़ती आबादी, यौन हिंसा और अराजकता का काल है। मेरा समकाल उन्मादग्रस्त हुडदंगियों का काल है–क्रिकेट, परमाणु बम, विस्थापन, बँटवारा, बाबरी मस्जिद ध्वंस, हिन्दू–मुस्लिम, हिन्दू–सिख, हिन्दू–ईसाई ही नहीं, हिन्दू–हिन्दू, मुस्लिम–मुस्लिम और उष्ण युद्ध (खूनी दंगे का काल) गणेश प्रतिमा को दूध पिलाती पिलपिलाती भीड़, सती के नाम पर नारी हत्या को गरिमा मंडित करता, नारी–शिशु, दलित गरीबों ज्योति–स्फुलिंगों की हत्या का काल रहा है मेरा काल। विकास मूलक कल्याणकारी योजनाओं, संस्थाओं के बनने और दायित्वहीनता और भोग के विवरों में उनके एक–एक करके विसर्जित होने का काल है यह।''**

उपर्युक्त दिए गए संजीव द्वारा लिखित आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यासों को जब हम बड़ी बारीकी से अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि आदिवासी जीवन कितना संघर्षपूर्ण हैं। आदिवासी समुदाय जो सीमित संसाधन में रहकर किस प्रकार से अपने अस्तित्व की रक्षा कर रहे हैं जैसा कि उपन्यास 'जंगल जहाँ से शुरू होता है' में दिखाया गया है कि आदिवासी समाज में व्याप्त जितनी भी विडंबनाये है, वे सब समाज की व्याप्त पूंजीपति वर्ग कुख्यात डाकू रूपी पुलिस–प्रशासन, राजनेताओं के साथ मिलकर किस प्रकार से आदिवासी समाज को मौत के अंधकार में ढकेलने का कार्य कर रहे हैं। यहाँ दिखाया गया है कि कैसे गुंडा और पुलिस दोनों मिलकर न्याय और अन्याय को एक समान साबित कर रहे हैं और जो सामान्य व्यक्ति हैं वे डाकू बनने के लिए किस प्रकार से मजबूर हो जाता है।

कथाकार संजीव के प्रसिद्ध आदिवासी उपन्यासों में 'धार' का नाम सबसे पहले आता है जो झारखंड के आदिवासियों के जीवन पर और उनके संघर्षों को देखते हुए लिखा गया है। उपन्यास में पूँजीपति वर्ग शासन–प्रशासन से मिलकर आदिवासी लोगों को झूठा सपना दिखाकर उनकी सारी जमीनों पर बड़ी–बड़ी फैक्टरी, कारखाने खेलते हैं और आदिवासियों को उसके बदले में उनको उनके वातावरण को विषैला बनाया जाता है, उसके बदले में उनको जहरीली गैस से भरी वातावरण मिलता है, जिसके चलते वे अपने जंगलों को मजबूरन छोड़कर विस्थापित होना पड़ता है, जिसके चलते वे अपने जीवन में तमाम तरह की समस्याओं का सामना करते हैं।

आदिवासी जीवन के संघर्षों के क्रम में उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'पांव तल की दूब' जो आदिवासियों के जीवन संघर्षों की महागाथा हैं। यह उपन्यास झारखंड के आसपास बसे आदिवासियों के संघर्ष की पूरी महागाथा को व्यक्त करती है। यह समुदाय हमारे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के परिचायक हैं, लेकिन फिर भी ये अपने जीवनकाल में दोहरे चरित्र वाले शासन–प्रशासन, पूंजीपतियों से अपने जीवन जीने

के लिए संघर्ष करते हुए दिखे हैं। इन आदिवासियों से ये लोग छीने तो सब कुछ जा रहा है, लेकिन बदले में शिक्षा, रोजगार घर, जंगल कुछ भी नहीं मिलता है बल्कि बदले में प्रताड़ना मिल रही है। दिनों–दिन इस भ्रष्ट शासन के चलते उनका शोषण की अति हो रही है। कथाकार संजीव के साहित्य में आदिवासी जीवन पर आधारित इन उपन्यासों के अलावा भी बहुत से उपन्यास और उनके सम्पूर्ण कथा साहित्य में को देखते हैं तो पाते हैं कि इनकी अधिकतर रचनाएँ आदिवासी जन समुदाय और आम जीवन के संघर्षों पर आधारित है यह कहा जा सकता है कि संजीव एक मात्र ऐसे साहित्यकार हैं जो आदिवासियों के दुख दर्द को इतनी बारीकी हम बेबाकी से अपने उपन्यासों में व्यक्त करते हुए दिखे हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समकालीन कथाकार संजीव जी जिनके लेखन कार्य को हम अन्य कथाकारों की तुलना में रखकर देखते हैं तो संजीव जी का लेखन कार्य विशाल रहा है, तथा वे वर्तमान समय की हर समस्याओं पर तीखा प्रहार करते हैं तथा जो कहते हैं सपाटबयानी और और एक व्यंग के साथ तथा पाठकों पर अपना एक अलग किस्म का प्रभाव छोड़ जाते हैं। जिससे पाठक चिंतन और विश्लेषण करने के लिए मजबूर हो जाता है।

सन्दर्भ और ग्रंथ सूची–

1. किशनगढ़ के अहेरी–संजीव, मीनाक्षी पुस्तक मंदिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1981 ई.
2. सर्कस–संजीव, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1994 ई.
3. सावधान नीचे आग है–संजीव, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1986 ई.
4. धार–संजीव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1990 ई.
5. पांव तले की दूब–संजीव, प्रवीण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1995 ई.
6. जंगल जहाँ से शुरू होता है–संजीव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली,प्रथम संस्करण, सन् 2000 ई.
7. सूत्रधार –संजीव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 2003 ई.
8. आकाश चंपा–संजीव, रेमाधव प्रकाशन प्रा. लि. गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, सन् 2008 ई.
9. रह गईं दिशाएं इसी पार–संजीव, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण, सन् 2011 ई.
10. फांस –संजीव, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 2014 ई.
11. प्रत्यंचा–संजीव, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 2019 ई.
12. मुझे पहचानो–संजीव, सेतु प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् 2020 ई
13. अहेर –संजीव, राजकमल प्रकाषन, प्रथम संस्करण सन् 2021 ई.
14. पूरबी बयार –संजीव, सेतु प्रकाशन, नोएडा, प्रथम संस्करण सन् 2021 ई.
15. समुद्र मंथन का पंद्रहवा रतन –संजीव, सेतु प्रकाशन, नोएडा, प्रथम संस्करण सन 2023 ई.
16. तीस साल का सफरनामा –संजीव, दिशा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1981 ई.
17. आप यहाँ हैं –संजीव, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1984 ई.
18. भूमिका और अन्य कहानिया–संजीव, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1987ई.
19. दुनिया की सबसे हसीन औरत–संजीव,यात्री प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1990 ई.
20. प्रेत मुक्ति–संजीव, दिशा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1991 ई.

साहित्यिक स्रोतों में वर्णित प्राचीन मगध क्षेत्र वस्त्र एवं आभूषण

डॉ. शालिनी कुमारी*

सार :

प्रस्तुत अध्ययन '' ाहित्यिक स्रोतों में वर्णित प्राचीन मगध क्षेत्र वस्त्र एवं आभूषण' का अध्ययन है। प्राचीन मगध भारतीय इतिहास का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहा है, जिसने न केवल राजनीतिक और प्रशासनिक संरचना को दिशा दी, बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों को भी समृद्ध किया। वस्त्र एवं आभूषण किसी भी सभ्यता की सामाजिक संरचना, आर्थिक स्थिति, तकनीकी विकास तथा सौंदर्यबोध के महत्त्वपूर्ण संकेतक होते हैं। इस शोध–लेख में वैदिक, उत्तरवैदिक, बौद्ध, जैन, पौराणिक तथा महाकाव्यात्मक साहित्यिक स्रोतों के आधार पर प्राचीन मगध क्षेत्र में प्रचलित वस्त्रों एवं आभूषणों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मगध में वस्त्र एवं आभूषण केवल दैनिक उपयोग की वस्तुएँ नहीं थीं, बल्कि वे सामाजिक वर्ग, लिंग, धार्मिक परंपरा तथा सांस्कृतिक पहचान के प्रतीक भी थे।

विशिष्ट शब्द : प्राचीन मगध, वस्त्र, आभूषण, साहित्यिक स्रोत, सामाजिक संरचना, संस्कृति आदि ।

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय सभ्यता के विकास में मगध क्षेत्र का योगदान बहुआयामी और दूरगामी रहा है। गंगा, सोन और फल्गु नदियों से सिंचित यह भू–भाग न केवल राजनीतिक शक्ति और साम्राज्य निर्माण का केंद्र रहा, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का भी प्रमुख स्थल रहा है। इतिहासकारों ने मगध को मुख्यतः हर्यंक, शिशुनाग, नंद और मौर्य वंशों के उदय तथा बौद्ध–जैन आंदोलनों के केंद्र के रूप में देखा है, किंतु इसके दैनिक जीवन, विशेषतः वस्त्र एवं आभूषण संस्कृति पर अपेक्षाकृत कम व्यवस्थित अध्ययन हुआ है। जबकि किसी भी समाज की जीवन–पद्धति को समझने के लिए उसके वस्त्र एवं आभूषण अत्यंत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत सिद्ध होते हैं।

वस्त्र और आभूषण केवल शरीर आच्छादन या सौंदर्य प्रसाधन तक सीमित नहीं होते, बल्कि वे सामाजिक हैसियत, आर्थिक स्थिति, तकनीकी दक्षता, धार्मिक आस्था तथा सांस्कृतिक चेतना के सशक्त प्रतीक होते हैं। प्राचीन मगध के संदर्भ में वस्त्र एवं आभूषणों का अध्ययन इसलिए भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि यह क्षेत्र बहु–सांस्कृतिक प्रभावों का संगम था।[1] आर्य एवं अनार्य परंपराएँ, ब्राह्मणवादी, श्रमण (बौद्ध–जैन) विचारधाराएँ तथा स्थानीय लोकसंस्कृति सभी का समन्वय मगध में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जिसका प्रतिबिंब वहाँ की वेशभूषा और अलंकरण परंपरा में भी मिलता है।

साहित्यिक स्रोत प्राचीन मगध के सामाजिक जीवन को समझने का एक सशक्त माध्यम प्रदान करते हैं। वैदिक एवं उत्तरवैदिक ग्रंथों में जहाँ वस्त्रों के प्राथमिक रूपों और अलंकरण की प्रारंभिक अवस्थाओं का संकेत मिलता है, वहीं बौद्ध त्रिपिटक और जातक कथाएँ मगध के नगरीय जीवन, राजसी वैभव, व्यापारिक समृद्धि तथा सामाजिक वर्गीकरण को वस्त्र एवं आभूषणों के माध्यम से उद्घाटित करती हैं। जैन आगम साहित्य में संयम, सादगी और आभूषण–त्याग के सिद्धांत सामाजिक जीवन के वैकल्पिक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार रामायण, महाभारत और पुराणों में मगध क्षेत्र के राजाओं, रानियों एवं कुलीन वर्ग की भव्य वेशभूषा और बहुमूल्य आभूषणों के उल्लेख मिलते हैं, जो तत्कालीन ऐश्वर्य और सांस्कृतिक वैभव का द्योतक हैं।[2]

मगध की भौगोलिक स्थिति ने भी उसके वस्त्र एवं आभूषण विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। गंगा नदी के व्यापारिक मार्गों के कारण मगध का संपर्क उत्तर भारत, मध्य एशिया और दक्षिण भारत से स्थापित हुआ, जिससे रेशम, सूती वस्त्र, स्वर्ण, रत्न और बहुमूल्य धातुओं की उपलब्धता संभव हुई। इसका प्रभाव न केवल राजसी वर्ग तक सीमित रहा, बल्कि शहरी मध्यम वर्ग और व्यापारी समुदाय की जीवन–शैली

* Assistant Professor, Dr. B. R. Ambedkar College of Education, Bodhgaya, Gaya, Bihar
Mob. No. 99390 93663, E-mail : shalinisharwan13@gmail.com

में भी परिलक्षित हुआ। इस प्रकार मगध की वस्त्र एवं आभूषण परंपरा उसकी आर्थिक संरचना और व्यापारिक नेटवर्क का भी प्रतिनिधित्व करती है।[3]

धार्मिक दृष्टि से भी वस्त्र एवं आभूषण मगध समाज में विशेष अर्थ रखते थे। ब्राह्मणवादी परंपरा में जहाँ यज्ञोपवीत, विशिष्ट वस्त्र और अलंकरण सामाजिक पहचान से जुड़े थे, वहीं बौद्ध और जैन परंपराओं में सादे वस्त्र और आभूषणों का परित्याग आध्यात्मिक उन्नति का प्रतीक माना गया।[4] इस प्रकार मगध में वस्त्र एवं आभूषण केवल भौतिक संस्कृति का अंग नहीं थे, बल्कि वे वैचारिक संघर्ष और सांस्कृतिक बहुलता के भी संवाहक थे।

अतः यह शोध–लेख साहित्यिक स्रोतों के आधार पर प्राचीन मगध क्षेत्र में प्रचलित वस्त्र एवं आभूषणों का ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। इसके माध्यम से न केवल मगध की भौतिक संस्कृति को समझा जा सकता है, बल्कि प्राचीन भारतीय समाज की जटिल संरचना, मूल्य–बोध और जीवन–दृष्टि को भी अधिक गहराई से विश्लेषित किया जा सकता है।

इस अध्ययन में यह प्रमाणित होता है कि मगध समाज में वस्त्रों का प्रयोग सामाजिक वर्गीकरण से गहराई से जुड़ा हुआ था। राजसी और अभिजात वर्ग द्वारा धारण किए जाने वाले रेशमी, बहुरंगी एवं अलंकृत वस्त्र उनकी आर्थिक सम्पन्नता और सामाजिक प्रतिष्ठा को दर्शाते थे, जबकि सामान्य जन और श्रमिक वर्ग के वस्त्र सादे, सीमित और उपयोगितावादी थे। इस प्रकार वस्त्र सामाजिक विषमता और वर्ग भेद का दृश्य संकेतक बन जाते थे।

आभूषणों के संदर्भ में भी यही स्थिति दृष्टिगोचर होती है। स्वर्ण, रजत और रत्नजटित आभूषणों का प्रयोग सत्ता, ऐश्वर्य और सांस्कृतिक वैभव का प्रतीक था। स्त्रियों द्वारा धारण किए जाने वाले आभूषण न केवल सौंदर्यबोध से जुड़े थे, बल्कि वैवाहिक स्थिति, पारिवारिक प्रतिष्ठा और सामाजिक सम्मान के द्योतक भी थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आभूषण मगध समाज में सामाजिक पहचान के प्रतीकात्मक उपकरण के रूप में कार्य करते थे।

अध्ययन यह भी दर्शाता है कि बौद्ध और जैन धर्मों के उदय के साथ मगध क्षेत्र में वस्त्र एवं आभूषणों के प्रति एक वैकल्पिक दृष्टिकोण विकसित हुआ। बौद्ध भिक्षुओं के काषाय वस्त्र और जैन मुनियों की अपरिग्रह की भावना, भौतिक वैभव के प्रति अस्वीकार और आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता को दर्शाती है। इस प्रकार मगध की वस्त्र–संस्कृति में भोग और त्याग, दोनों प्रवृत्तियाँ समानांतर रूप से विद्यमान थीं, जो इस क्षेत्र की सांस्कृतिक बहुलता को उजागर करती हैं।

साहित्यिक स्रोतों के आधार पर यह भी निष्कर्ष निकलता है कि मगध की भौगोलिक स्थिति और व्यापारिक संपर्कों ने वस्त्र एवं आभूषण परंपरा के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। गंगा घाटी के व्यापारिक मार्गों के माध्यम से बाह्य क्षेत्रों से रेशम, बहुमूल्य धातुएँ और रत्नों की उपलब्धता ने यहाँ की शिल्पकला और अलंकरण परंपरा को समृद्ध किया। इससे यह सिद्ध होता है कि मगध की वस्त्र एवं आभूषण संस्कृति उसकी आर्थिक समृद्धि और अंतर–क्षेत्रीय संपर्कों से गहराई से प्रभावित थी।

साहित्य समीक्षा

साहित्यिक स्रोतों में वर्णित प्राचीन मगध क्षेत्र के वस्त्र एवं आभूषणों से संबंधित अध्ययन भारतीय सामाजिक–सांस्कृतिक इतिहास की महत्वपूर्ण कड़ी है। इस विषय पर उपलब्ध साहित्य का विकास वैदिक काल से लेकर आधुनिक इतिहास लेखन तक क्रमिक रूप से हुआ है। विद्वानों द्वारा किए गए अध्ययनों को कालानुक्रमिक रूप में निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

सचिन कुमार (2024) ने अपने शोध–लेख में मगध क्षेत्र के वस्त्र एवं आभूषणों को सांस्कृतिक पहचान के रूप में विश्लेषित किया है। उन्होंने साहित्यिक स्रोतों के साथ–साथ पुरातात्विक साक्ष्यों को भी जोड़ा है।[5]

अंजली वर्मा (2021) ने प्राचीन भारतीय वस्त्र परंपरा पर किए गए अध्ययन में मगध को वस्त्र उत्पादन और व्यापार का प्रमुख केंद्र माना है तथा साहित्यिक साक्ष्यों की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की है।[6]

आर. सी. मजूमदार (2020) ने प्राचीन भारत का इतिहास में मगध के राजनीतिक उत्कर्ष के साथ राजसी वस्त्राभूषणों के विकास को जोड़ा है। उन्होंने स्वर्ण, रजत और रत्नजटित आभूषणों को शासकीय वैभव का प्रतीक माना है।[7]

राधाकुमुद मुखर्जी (2008) ने प्राचीन भारतीय संस्कृति में तत्कालीन सामाजिक जीवन का विश्लेषण करते हुए वस्त्रों और आभूषणों को सांस्कृतिक प्रतीकों के रूप में देखा है। उनके अनुसार गंगा घाटी विशेषकर मगध क्षेत्र में सूती एवं रेशमी वस्त्रों का प्रचलन आर्थिक समृद्धि का सूचक था।[8]

डी. डी. कोसांबी (1965) ने प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता में वस्त्र एवं आभूषणों को उत्पादन व्यवस्था और वर्ग संरचना से जोड़कर विश्लेषित किया है। उनका मत है कि मगध क्षेत्र में शिल्पकला और व्यापार के विकास ने वस्त्राभूषणों की विविधता को बढ़ाया।[9]

रामशरण शर्मा (1983) ने प्राचीन भारत में भौतिक संस्कृति में यह स्पष्ट किया है कि वस्त्र और आभूषण सामाजिक असमानता के प्रमुख सूचक थे। उनके अनुसार मगध जैसे समृद्ध क्षेत्र में अभिजात वर्ग और सामान्य जन के वस्त्रों में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है।[10]

उपेन्द्रनाथ घोषाल (1990) ने बौद्ध साहित्य के आधार पर मगध क्षेत्र के नगरोंकृराजगृह, नालंदा आदिमें प्रयुक्त वस्त्रों एवं आभूषणों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार बौद्ध धर्म के प्रभाव से सादगी की प्रवृत्ति बढ़ी, किंतु राजसी वर्ग में आभूषणों का प्रयोग बना रहा।[11]

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन मगध क्षेत्र के वस्त्र एवं आभूषणों पर विद्वानों ने सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विचार किया है। तथापि, अधिकांश अध्ययन व्यापक भारतीय परिप्रेक्ष्य में किए गए हैं, जिनमें मगध क्षेत्र को पृथक एवं केंद्रित रूप में कम देखा गया है।

उद्देश्य

1. साहित्यिक स्रोतों के आधार पर प्राचीन मगध क्षेत्र में प्रचलित वस्त्रों के प्रकार, स्वरूप एवं विकासक्रम का अध्ययन करना।
2. प्राचीन मगध समाज में आभूषणों की प्रकृति, उपयोग तथा उनके सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्त्व का विश्लेषण करना।
3. वस्त्र एवं आभूषणों के माध्यम से मगध समाज की सामाजिक वर्ग–व्यवस्था, आर्थिक स्थिति एवं जीवन–शैली को समझना।
4. स्त्री एवं पुरुषों के वस्त्र एवं आभूषणों में निहित भेदभाव एवं सांस्कृतिक अर्थों का अध्ययन करना।
5. बौद्ध एवं जैन साहित्य में वर्णित वस्त्र एवं आभूषण संबंधी अवधारणाओं की तुलना ब्राह्मणवादी परंपरा से करना।

परिकल्पनाएँ

1. यह परिकल्पना की जाती है कि प्राचीन मगध क्षेत्र में वस्त्र एवं आभूषण सामाजिक वर्ग और आर्थिक स्थिति के प्रमुख सूचक थे।
2. यह माना जाता है कि राजसी एवं अभिजात वर्ग के वस्त्र एवं आभूषण सामान्य जनजीवन की तुलना में अधिक भव्य एवं बहुमूल्य थे।
3. यह परिकल्पना है कि बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रभाव के कारण मगध क्षेत्र में सादगीपूर्ण वस्त्र–परंपरा एवं आभूषण–त्याग की प्रवृत्ति विकसित हुई।
4. यह माना जाता है कि मगध की व्यापारिक समृद्धि और बाह्य क्षेत्रों से संपर्क ने वहाँ के वस्त्र एवं आभूषणों में विविधता और उन्नत शिल्पकला को प्रोत्साहित किया।

निष्कर्ष

यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर भी पहुँचता है कि साहित्यिक स्रोत यथा वैदिक ग्रंथ, जातक कथाएँ, जैन आगम, महाकाव्य और पुराण–मगध की भौतिक संस्कृति को समझने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक साक्ष्य प्रदान करते हैं। यद्यपि ये स्रोत प्रत्यक्ष ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं हैं, फिर भी इनके तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक यथार्थ को पर्याप्त सीमा तक पुनर्निर्मित किया जा सकता है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि प्राचीन मगध क्षेत्र की वस्त्र एवं आभूषण परंपरा उसके समाज की आर्थिक संरचना, सामाजिक पदानुक्रम, धार्मिक चेतना और सांस्कृतिक पहचान का समग्र प्रतिबिंब है। यह शोध न केवल मगध की भौतिक संस्कृति को एक स्वतंत्र ऐतिहासिक विषय के रूप में स्थापित करता है, बल्कि प्राचीन भारतीय सामाजिक इतिहास के अध्ययन को भी नई दृष्टि प्रदान करता है। भविष्य में इस विषय पर पुरातात्त्विक साक्ष्यों और कला इतिहास के समन्वय से और अधिक गहन अनुसंधान की व्यापक संभावनाएँ विद्यमान हैं।

सन्दर्भ सूची

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (2020)। भारतीय संस्कृति के प्रतीक। वाराणसी, चौखम्बा प्रकाशन, पृ0 78
2. मिश्र, सुनील कुमार (2022)। गंगा घाटी की सभ्यता और संस्कृति। वाराणसी, विद्या निकेतन, पृ0 19

3. सिंह, पूजा (2023)। "मगध क्षेत्र की सामाजिक संरचना में वस्त्र एवं आभूषणों की भूमिका"। भारतीय इतिहास समीक्षा, पृ0 73–89।
4. तिवारी, राजेश (2023)। प्राचीन भारत में शिल्प, व्यापार और वस्त्र उद्योग। लखनऊः उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, पृ0 19
5. कुमार, सचिन (2024)। "प्राचीन भारत में वस्त्र एवं आभूषणरू एक सांस्कृतिक अध्ययन"। इतिहास बोध, पृ0 45–62।
6. वर्मा, अंजली (2021)। प्राचीन भारतीय वस्त्र परंपराः साहित्य और संस्कृति। दिल्ली, प्रभात प्रकाशन, पृ0 23
7. मजूमदार, आर. सी. (2020)। प्राचीन भारत का इतिहास, नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, पृ0 109
8. मुखर्जी, राधाकुमुद (2008) चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 58
9. कोसंबी, धर्मानंद (2009). भगवान बुद्ध और उनका धम्म, मुंबई, लोकप्रिय प्रकाशन, पृ0 93
10. शर्मा, रामशरण (2019)। प्राचीन भारत में भौतिक संस्कृति। नई दिल्ली, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास,
11. घोषाल, उपेन्द्रनाथ (2021)। बौद्ध साहित्य में सामाजिक जीवन। पटना, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ0 69

भाषा की प्रकृति, परिभाषा एवं विशेषताएँ

डॉ. श्रीकान्त यादव

व्यापक अर्थों में भाषा समस्त प्राणियों द्वारा परस्पर भाव –विचार विनिमय का माध्यम है । जिसमें पशु –पक्षी की बोली, इंगित या आंगिक भाषा , संकेत- चिन्ह या सांकेतिक भाषा , मानवीय भाषा आदि को मोटे तौर पर शामिल किया जा सकता है ।

मानवीय भाषा को छोडकर उपर्युक्त सभी माध्यम भाषा-विज्ञान की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं । इसका यह मतलब नहीं कि ये माध्यम भाव या एक हद तक विचार विनमय में सार्थक नहीं हैं बल्कि ये अस्पस्ट और अव्यक्त वाक् हैं। अव्यक्त वाक् से तात्पर्य यह है कि जहाँ शब्द और अर्थ दोनों ही अस्पस्ट बने रहते हैं । पशु पक्षियों की भाषा को अव्यक्त वाक् के दायरे में रखा जाता है, क्योंकि प्रकृति प्रदत्त ध्वनियों को उन्होंने सायास कोई विकास नहीं किया है । इनकी उत्पत्ति से लेकर आजतक देश ,काल, वातावरण की विभिन्नताओं के बावजूद उनकी बोलियों में भावों को व्यक्त करने में समानता पायी जाती है । इसका कारण भावों और विचारो को व्यक्त करने केआदि से आजतक के माध्यमों में कोई सार्थक विकासात्मक प्रयास का न होना है । अब सवाल यह उठता है कि पशु- पक्षी आपस में अपने विभिन्न भावों के आदान –प्रदान करने के लिए कैसी भाषा का प्रयोग करते हैं ? इसका जवाब पशु- पक्षी की भाषाओं के अध्यनकर्ताओं के शोधों में देखा जा सकता है । जिनका स्पस्ट मत है कि भावों के अभिप्राय बदलने के अनुसार भाषा बादल जाती है। मसलन शेरों के झुंड में घिरा भैंसा हो ,कुत्तो के बीच धिरा दूसरा कुत्ता या दूसरी प्रजाति के बड़े बंदर को देखकर छोटे बंदरों का खुद के बचाव में निकाली गयी ध्वनि, या सजातीय श्रेणी की चिड़ियों या अन्य किसी प्रजाति की श्रेणी के बीच घिरी चिड़िया की ध्वनि से उनके भावों विचारों के विनिमय को समझा जा सकता है । यदि उनके द्वारा भेजे गए संदेश से उनका समूह एकत्रित होकर अपने साथी को बचाते हुये दूसरे झुंड पर पलटवार करने में सफल होता है तो उस बदले हुए मनोंभाव में उनकी भाषा भी बदल जाती है।यहाँ एक बात ध्यान देने की जरूरत यह है कि इन पशु- पक्षियों के संदेशों का भाव एक है। बात यह है कि अपने समूह से अलग दलदल में फँसे भैंसे की बोली और शेरों के झुंड में फँसे भैंसे की बोली में बलाघात के अलावा कोई अंतर न दिखेगा। उसके अपने सजातियों के पास केवल यही संदेश पहुंचेगा कि वह मुसीबत में है । उसी तरह अन्य प्रजाति के बंदर बड़े बंदर को देखकर व चीता को देखकर अपने सजातीय बंदरो को चौकन्ना रहने के लिए बोली गयी बोली में इतना ही संदेश रहेगा कि सावधान रहिए! परंतु यह निश्चित नहीं कि चीता या अन्य किसी जानवर से । इसी प्रकार चिड़ियों के संदेश में है भी लागू होती है कि सावधान रहिए पर किससे यह बात पता नहीं चलती कि कोई दूसरी प्रजाति का शिकारी पक्षी है या बिल्ली आदि। इससे पता चलता है की भावों की विविध चेतना को व्यक्त करने की सामर्थ्य इनमें नहीं हैं, मोटे तौर पर भाव तो व्यक्त हो रहे हैं पर भावों की विबिधता व विचार का आभाव है । अब यहाँ स्वाभाविक सा सवाल उठता होगा कि हमें यह बात कैसे पता ? वास्तव में यह हर व्यक्ति के सहज जीवनानुभव की चीज है ,इसकी प्रामाणिकता जीवविज्ञान के अध्ययन से पुष्ट हो चुकी है । खैर पशु पक्षी विभिन्न संकेतों के द्वारा सुख–दुख ,हर्ष –विषाद प्रेम,स्वागत आदि मनोंभावों को ब्याक्त करने के उनके अपने तरीके हैं । इसी बात को लक्ष्य करते हुए गोस्वामी तुलसी दास ने रामचरित मानस मे लिखा है- ' समुझई खग खगहि की भाषा '

इंगित या आंगिक भाषा को भी भाषा की मान्यता प्राप्त है । जिसमे हाथ, आँख, सिर आदि को हिलाने व चलाने से विविध अर्थों की अभिव्यक्ति होती है जैसे सिर को ऊपर नीचे करने से 'हाँ ' और दायें बाएँ करने से 'नहीं' की अभिव्यक्ति होती है । इसी प्रकार हाथ उठाकर कलाई से दायें बाएँ करने पर 'मना करने' का बोध होता है, या कलाई को रोककर अंगुलियों के समुच्य से 'दूर जाने' या 'पास बुलाने' का बोध कराया जाता है । उसी प्रकार से आँखों के इसरे से 'चलने' ,तरेर कर 'क्रोध' आदि को व्यक्त किया जाता है । परंतु देखा जाय तो आंगिक भाषा में कोई गहन विचार व्यक्त नहीं किया जा सकता । इससे समान्य भाव व मोटी सूचनाएँ तो प्रेषित की जा सकती हैं, पर भ्रम की संभावनाएं भी कम नहीं हैं । वस्तुतः देखा तो यह केवल गूंगे व्यक्तियों के भावाभिव्यक्ति का माध्यम है जबकि सामान्य मनुष्य वाचिक भाषा के पूरक माध्यमों के रूप मे इसका प्रयोग करता है । एक के लिए यह मजबूरी है तो दूसरे के लिए भावों विचारों को व्यक्त करने वाले माध्यम(भाषा) को उत्तम से सर्वोतम बनाने का तरीका । इस प्रसंग में रीतिकालीन कवि विहारी का यह दोहा विशेष महत्व का है –

कहत नटत रीझट खीझट ,मिलत खिलत लजियात ।
भरे भवन में करत हैं, नैनन ही सो बात । ।

अर्थबोथ के लिए हम अनेक संकेत चिन्ह या सांकेतिक भाषा का प्रयोग करते हैं । स्काउट, नाविक या सैन्य बल आदि झंडे के संकेतों के माध्यम से अपने संदेश भेजते हैं । इसी तरह रेलगाड़ी का गार्ड हरे या लाल झंडे से चलने या रुकने का संदेश देता है । बड़े शहरों में यातायात की सुगमता के लिए लाल ,हरी, पीली बत्तियों का प्रयोग होता है। इसके अलावा

गति अवरोधक ,गतिसीमा,दायें या बाएँ ,पदल रास्ते ,साइकिल के लिए रास्ते ,स्कूल ,तीखे मोड ,आदि की जानकारी व सावधानी हेतु निर्देश संकेत चिन्हों द्वारा दिए गए होते हैं जो सांकेतिक भाषा के उदाहरण हैं। परंतु उपरयुक्त भाषाओं की तरह इसकी भी सीमायेँ हैं, इसमें भ्रम की स्थिति बराबर बनी रहती हैं ।पूर्णत गहन भावों व विचारो को व्यक्त करने में यह भी असमर्थ है ।

आजकल सूचनाक्रांति के दौर में व्हाट्सएप्प आदि में प्रयोग किए जाने वाले अनेक संकेत-चिन्ह आंगिक व सांकेतिक भाषा के नवीन उदाहरण हैं ।

समाज सामाजिक संबंधो का जाल है। मैकाइवर और पेज ने समाज को परिभाषित करते हुये यह परिभाषा दी है । हम अपनी बात यहीं से शुरू करेंगे ।देखा जाय तो सामाजिक सम्बन्धों के क्रिया व्यापार का ढांचा भाषा से ही संभाव बना है। जो हमारे सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों के व्यवहार के साथ साथ समाज को एकता के सूत्र मे बांधता है। हमारे ज्ञान विज्ञान की सारी प्रगति भाषा से संपान्न हुई है । यदि भाषा का विकास न होता तो हमारा जीवन न्यूनाधिक पशुओं के इर्द-गिर्द ही होता ।भाषा भौतिक जगत (ठोस और द्रव) तथा भाव जगत प्रेम क्रोध भय जुगुप्सा आदि (भावों के बिंबो से तातपार्य प्रकट होने वाले उसके लक्षणो से है।) के बिंबों को कोई भाषा भाषी समाज निश्चित प्रतिकों में बांधता है और इस निश्चित प्रणाली को पूरा समाज मानने को बाध्य होता है । इस बधे हुये प्रतीकों की संरचना से भावों-विचारों का ध्वनि तरंगों के माध्यम से विनिमय होता है । बिंबों के प्रतीकीकरण की व्यवस्था अलग-अलग भाषाओं की अपनी स्वतंत्र व्यवस्था होती है । उदाहरण के लिए हिन्दी में गुलाब के लिए जिन प्रतीकों की व्यवस्था है जाहिर है अन्य किसी भाषा में अलग होगी । गुलाब के अपने अनेकों रंग भेद है पर उसकी प्रकृति एक है ,मसलन कटीली झाड़ पर खिला हुआ फूल । जिस भौगोलिक दायरे में हम आप रहते हैं उसमें उत्पन्न हुई वस्तु हमारे चेतना पर गहरा प्रभाव डालती है। हम जानते हैं की गुलाब की अनेकों प्रजातियाँ आज उपलब्ध हैं पर हमारे अवचेतन मन में सचेत स्तर पर गुलाब के फूल का जो रंग सबसे पहले सुरक्षित है वही बिम्ब गुलाब कहने पर सबसे पहले उपस्थित होगा। थाईलैंड के लोगों को हाथी का बिम्ब उसके आकार प्रकार के साथ सफ़ेद रंग का ही सर्वप्रथम उपस्थित होगा । रंग,आकार-प्रकार आदि भेद को व्यक्त करने के लिए भाषा में विशेषण की व्यवस्था हुई। कहना ना होगा कि हमारी चेतना में जितने बिम्ब बिधान हैं ,बिकसित होती सभ्यताओं के नित-नवीन रूपों का प्रतीकीकारण के द्वारा विविध नए शब्द संरक्षित होते रहते हैं।इन नित-नवीन वस्तुओं के बिंबो का निश्चित प्रतीक निर्धारण कोई भी भाषा-भाषी समाज स्वतंत्र रूप से निर्मित करता है । ये अनेकों पदार्थजगत के बिंब भाषा के निशिचित प्रतिकों के रूप में ध्वनि अवयओं से ध्वनित होकर वायु तरंगों के माध्यम से दूसरे व्यक्ति के श्रव्य इंद्रिय तक पहुँचकर उसके मस्तिष्क में प्रेषित बिम्ब का निर्माण करते हैं । इसी रूप में वक्ता और श्रोता के बीच संबद्ध स्थापित है ,और जहां यह संबंध स्थापित नहीं हो पाता वहाँ भाव-विचार विनिमय बाधित होता है। मसलन कोई हिन्दी भाषी वक्ता किसी अन्य भाषा-भाषी से गुलाब के लिए प्रतीक-ध्वनि का प्रयोग करेगा तो जाहिर है अन्य भाषा-भाषी श्रोता के मस्तिष्क में गुलाब का बिम्ब उपस्थित नहीं होगा । कारण यह है कि अन्य भाषा-भाषी व्यक्ति के भाषायी संरचना में हिन्दी भाषा के पदार्थजगत के बिंबों के निर्धारित प्रतीकीकरण की व्यवस्था का ज्ञान नहीं है ।एसी स्थिति में हिन्दी भाषी वक्ता द्वारा पेषित भाव या वस्तु का बिम्ब अन्य भाषी के मस्तिष्क में उपस्थित नहीं हो पाता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा का पूरा व्यवहार प्रतिकों कि निश्चित संरचना पर आधारित है जिसे कोई भाषा-भाषी समाज निश्चित करता है । अत: कहा जा सकता है कि भाषा सामाजिक व्यवस्था की एक व्यवस्था है जिससे प्रत्येक भाषा-भाषी समाज उसको मानने और प्रयोग करने कि लिए बाध्य होता है । और इस कारण पदार्थ, बिम्ब और प्रतीक की समरूपता कायम होती है। प्रतीक इसी समरूपता से भाषा में अर्थ निहित रखता है।वस्तुतः यह भाषा की वाह्य व्यवस्था हुई। जिस प्रकार किसी भाषा में बिम्ब और प्रतिकों की अपनी स्वतंत्र वाह्य व्यवस्था होती है ,उसी तरह उसकी अलग आंतरिक व्यवस्था भी होती है । उदाहरण के लिए हिन्दी की अपनी व्यवस्था में पहले संज्ञा या सर्वनाम ,फिर दूसरी संज्ञा और फिर मुख्य क्रिया के बाद सहायक क्रिया का बिधान है । यदि इस परिपाटी की संरचना को उलट-पलट कर प्रयोग किया जाय तो उसे भाषा की आंतरिक संरचना के विचलन के रूप में देखा जायेगा जैसे राम सड़क पर दौड़ता है।इस वाक्य को यदि ''दौड़ता है राम सड़क पर'',''या राम दौड़ता है सड़क पर'' लिखा जाय तो हिन्दी भाषी समाज स्वविकार्य नहीं करेगा ।वह भले ही भाषा विचलन के सैद्धांतिक पक्ष से अनभिज्ञ हो पर व्यवहारिक पक्ष से सचेत होता है । इसी रूप मे भाषा सामाजिक व्यवस्था की व्यवस्था है न कि व्याकरणिक व्यवस्था ।व्याकरणिक व्यवस्था बाद की प्रक्रिया है सर्वप्रथम वह सामाजिक व्यवस्था है।व्याकरणिक व्यवस्था रूढ होती है जबकि समाज और उसकी भाषा गतिशील । भाषा विकास की प्रक्रिया में व्याकरण का अतिक्रमण करती है ,उसमें अपनी आवश्यकतानुसार कुछ जोड़ती है और अप्रासंगिक चीजों को छोड़ती हुई चलती है । आगे बढ़े हुए समाज की भाषाई व्यवस्था पुनः नए व्याकरण की मांग करती है। इस संदर्भ में वैदिक संस्कृत ,लौलिक संस्कृत के बाद पालि, प्राकृत,अपभ्रंस आदि भाषाओं को देखा जा सकता है ।

भाषा में प्रतीक की अनिवार्यता ध्वनित होना तथा ध्वनि का प्रतीकार्थ होना जरूरी है । अर्थात उसे ध्वनित होना , सुना और समझा जाना चाहिए । हम अपने दैनिक जीवन में तमाम ध्वनियों का प्रयोग करते हैं और उससे अर्थ भी ग्रहण करते हैं । मसलन स्कूल की घंटी की ध्वनि से विविध अर्थ निकलते हैं। प्रार्थना से लेकर कक्षाओं की गति, मध्यान का अवकाश फिर कक्षा या स्कूल से छुट्टी होने आदि का अर्थ निकालाता है । इसी प्रकार कोई शिक्षक कक्षा में पढ़ाते वक़्त

पीछे बैठे कुछ छात्रों के आपसी खुसुर –फुसुर को शांत करने के लिए व्याख्यान को बिना रोके डेस्टर या कलम से मेज पर खुट-खुट की ध्वनि उत्पन्न करता है ,जिससे बच्चे बात करना बंद कर देते हैं। यानी की खुट –खुट की ध्वनि से शांत होकर पढ़ाई पर ध्यान देने का अर्थ निहित है। एसे ही कोई व्यक्ति आप के दरवाजे को खटखटाए तो आप को किसी के आने का भान होता है । आप जब गाड़ी चलते हैं तो लाल बत्ती का जलना रुकने का संकेत है।यदि आप बिना ध्यान दिये आगे बढ़ गए तो यातायात पुलिस की सीटी बजते आप को रुकने का अर्थ देती है ।उपर्युक्त सभी ध्वनियां प्रतिकात्मक अर्थ व्यक्त करने के बावजूद भाषा के दायरे से बाहर हैं क्योंकि भाषा को भाषा-विज्ञान के दायरे में आने की प्रथम शर्त यह है कि उसे मनुष्य के वागेन्द्रियों से उच्चरित होना अनिवार्य है तथा उसमें प्रयुक्त होने वाले वर्ण साफ-साफ सुनाई पड़े और वे अर्थवान भी हों । अब यहाँ यह सवाल उठना लाज़मी है कि वाग्येन्द्रियों से निकली सभी ध्वनि भाषा है ? पर हमें यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि मनुष्य जब अपने भाव-विचार व्यक्त करने के लिए अंग-भंगिमा और मुख-विकृति द्वारा या कोई एसी ध्वनि का उच्चारण करता है जो अस्पस्ट हो और कोई सार्थकअर्थ नहीं देती है, वाग्येन्द्रियों से निश्रित होने के बावजूद अव्यक्त वाक हैं ,जिसे हम पशु-पक्षियों की भाषाओं के संदर्भ में देख आए हैं।

किसी भी भाषा में प्रतीकों की व्यवस्था यादृच्छिक होती है।यादृच्छिक से अर्थ हैअपनी इच्छा या स्वतन्त्रता से है । तात्पर्य यह है कि कोई भाषा-भाषी समाज भाव व पदार्थ जगत की समस्त जीव-निर्जीव वस्तुओं के प्रतीकीकरण(नामकरण) के लिए स्वतंत्र है और इस नामित शब्द और उसके अर्थ में कोई तार्किक संबंध लक्षित नहीं होते।मसलन, पशु-विशेष को गाय या घोड़ा तथा भाव विशेष को प्रेम या क्रोध, वस्तु-विशेष को कुर्सी या मेज , क्यों कहा जाता है ,यह बताना असंभव है । यदि उस ध्वनि प्रतीकों से बोध होने वाली वस्तुओं का कोई तार्किक कारण पता चलता तो पूरी दुनियाँ की भाषाओं में अमुक के लिए एक ही ध्वनि-प्रतीक प्रयोग में लाया जाता।फलतः संस्कृत में गौ: व अश्व: ,हिन्दी में गाय व घोड़ा ,अंग्रेजी में काऊ व हॉर्स ,रूसी में करोवा व लोशज् आदि भाषाओं में विविध रूप न होकर कोई एक ही होता ।उसी प्रकार हिन्दी में क्रोध से किसी का तमतमाया हुआ चेहरा और शोक में निराश-हताश बैठे व्यक्ति का बिम्ब उपस्थित होता है । यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि रंग रूप-आकार में न्युनाधिक भिन्नता जलवायु के कारण दुनियाँ भर में पायी जाती है पर ये भाव इसी रूप में व्यक्त होंगे न कि शोक में संसार के किसी कोने का व्यक्ति हँस कर व्यक्त करेगा। इन भाव के लिए हिन्दी में ध्वनि-प्रतीक क्रोध और शोक है । अन्य किसी भाषा में जाहिर है अलग होंगे ,परंतु दूसरी भाषाओं के उन ध्वनि-प्रतिकों से भी वही बिम्ब उभरेगा जो क्रोध और शोक कहने से उपस्थित होता है । यही बात कुर्सी-मेज के संदर्भ में भी लागू होती है। उपर्युक्त पशुओं के लिए ध्वनि-प्रतिकों का तार्किक संबंध नहीं है, बल्कि ये ध्वनियों मनमाने ढंग से गढ़ ली गयी हैं और हर भाषा-भाषी समाज उसे मानने के लिए परस्पर सहमत या बाध्य है । जब हिन्दी भाषा-भाषी गाय कहता है तो हिन्दी भाषी के मस्तिष्क में गाय का चित्र उपस्थित होने में कोई समस्या नहीं होती है ,उसी प्रकार रूसी भाषा-भाषी करोवा कहता है तो दूसरे रसियन को कोई दिक्कत नहीं होती है ,पर गाय के लिए जो प्रतीक हिन्दी भाषी प्रयोग करता है उसमें और रूसी भाषा-भाषी में कोई समरूपता नहीं है । ये दोनों गाय के लिए अपने-अपने ध्वनि-प्रतीक प्रयोग करेंते हैं, यही भाषा की यादृच्छिकता है ।

भाषा अपने आप में पूर्ण इकाई होती है । इसको बोलने समझने वाले समाज के समस्त भाव- विचार को वहन करने में सक्षम होती है ।उस भाषा भाषी समाज की कुछ आवादी चाहे शिक्षित हो या न हो उसे किसी भी प्रकार की दिक्कत नहीं होती है । उसके समस्त क्रिया कलाप के लिए उसकी शब्द संपदा पर्याप्त होती है । आजकल आधुनिक ज्ञान-विज्ञान व तकनीकि में आगे बढ़ा या बढ़ता देश व समाज अपनी भाषा को मजबूत और पीछे छूट गए समाज की भाषा को कमजोर कहता है । मजे की बात यह है कि विकास कि इस रीति में पीछे छूटा समाज भी कमोवेश स्वीकार करता है । यह कोरी बकवास के अलावा कुछ नहीं है । कोई भाषा-भाषी समाज अपनी आवश्यकता के अनुरूप नित-नवीन सभ्यता का निर्माण करता चलेगा तो उसमें प्रयुक्त होने वाले पदार्थों को भाषा अपने शब्द भंडार में शामिल कर लेगी

प्रमुख भारतीय विद्वानो की परिभाषायें –

१ महर्षि यास्क और प्रसिद्ध व्याकरण विद पाणिनी ने अपने ग्रंथ निरुक्त और अष्टाध्यायी में भाषा की कोई स्वतंत्र परिभाषा नहीं दी है ,किन्तु वैदिक भाषा की तुलना में बोलचाल की लौकिक संस्कृत के लिए भाषा शब्द का प्रयोग किया है ।

२ पाणिनी के अष्टाध्यायी पर लिखे अपने महाभाष्य में महर्षि पतंजलि ने भाषा को परिभाषित करते हुये लिखा हैं कि"व्यक्ता वाचि वर्णा येषा त इमे व्यक्तवाच:" अर्थात जो वाणी वर्णों में व्यक्त होती है उसे भाषा कहते हैं ।

३ अमरकोश में भाषा को वाणी का पर्यायाय बताया गया है -"ब्रह्मा तु भारती भाषा गीर् वाग् वाणी सरस्वती "

४ आधुनिक भाषाविद कामता प्रसाद गुरु के अनुसार- "भाषा वह साधन है ,जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भलीभांति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार आप स्पस्टतया समझ सकता है ।

५ श्यामसुंदर दास के अनुसार -"मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान प्रदान करने की लिए व्यक्त ध्वनि –संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं ।

६ बाबूराम सक्सेना के अनुसार –"जिन ध्वनि चिन्हों द्वारा मनुस्य परस्पर विचार विनिमय करता है ,उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं"।

७ पाण्डुरंग दामोदर गुणे के अनुसार A –''भाषा हमारे विचारों एवं मनोभावों के उन चिन्हों का पूर्ण योग है ,जिसके द्वारा हम अपने वाह्य विचार प्रकट किया करते हैं तथा इच्छानुसार विचारों एवं भावों को एक बार प्रकट कर के उनकी पुनरावृत्ति कर सकते हैं ''।
B-''ध्वन्यात्मक –शब्दों द्वारा हृद्गत भावों तथा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है'' ।

८ भोलानाथ तिवारी के अनुसार – ''भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुस्य के मुख से नि:सृत वह सार्थक ध्वनि समष्टि है ,जिसका विश्लेषण और अध्ययन हो सके''।

९ देवेंद्रनाथ शर्मा के अनुसार भाषा ''उच्चरित ध्वनि संकेतों की सहायता से भाव या विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति भाषा है ,अथवा जिनकी सहायता से से मनुष्य परस्पर विचार विनिमय या सहयोग करते हैं ,उस यादृच्छिक रूढ ध्वनि –संकेतो की प्रणाली को भाषा कहते हैं ।

१० उदयनारायण तिवारी के अनुसार –''भाषा मनुष्य के प्रतीक कार्यों का प्राथमिक एवं बहुविस्तृत रूप है । एसके प्रतीक ध्वनि अवयवों से उत्पन्न ध्वनि अथवा ध्वनि समूहों से बने होते हैं एवं विभिन्न वर्गों तथा आकारों में एस प्रकार सजाये हुए रहते हैं कि उनका संयुक्त एवं सुडौल आकार (ढांचा)बन जाता है''।

११ किशोरी दास बाजपेयी के अनुसार – विभिन्न अर्थों में संकेतिक शब्दसमूह ही भाषा है ,जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरे के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।

१२ कैलाश नाथ पाण्डेय के अनुसार –भाषा उच्चारण अवयवों (Speech-organs)से उच्चरित यादृच्छिक (Arbitrary)ध्वनि –प्रतिकों (Vocal- symbols) की वह सार्थक समीष्टि है ,जिसके द्वारा एक समाज अथवा वर्ग –विशेष के लोग परस्पर विचारों एवं भावों को अभिव्यक्त करते हैं''।

प्रमुख पाश्यात विद्वानों की परिभाषायें -

१ मैक्समूलर के अनुसार – भाषा और कुछ नहीं है ,केवल मानव की चतुर बुद्धि द्वारा आविष्कृत एक ऐसा उपाय है ,जिसकी मदत से हम अपने विचार सरलता और तत्परता से दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं और चाहते हैं कि उसकी व्याख्या प्रकृति की उपज के रूप में नहीं ,बल्कि मनुष्यकृत पदार्थ के रूप में करना उचित है''।

२ ए.एच. गार्डिनर के अनुसार –विचारों कि अभिव्यक्ति के लिए जिन व्यक्त एवं स्पस्त ध्वनि –संकेतों का व्यवहार किया जाता है ,उन्हें भाषा कहते हैं ।

३ हेनरी स्वीट के अनुसार –ध्वन्यात्मक-शब्दों द्वारा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है ।

४ जी. वान्द्रिएज के अनुसार-भाषा की सबसे साधारण परिभाषा यह हो सकती है कि वह चिन्हों का वृत्तीचक्र है । चिन्हों से अभिप्राय यहाँ उन सब प्रकार के प्रतिकों से है ,जो मनुष्यों से संभाषण को संभव बना सके ''।

५ क्रोचे के अनुसार –भाषा उस स्पस्ट ,सीमित तथा सुसंगठित ध्वनि को कहते हैं ,जो अभिवयंजना के लिए न्युक्ति कि जाती है ।

६ वांद्रेये के अनुसार –''भाषा एक प्रकार का चिन्ह है ,चिन्ह से तात्पर्य उन प्रतिकों से है ,जिसके द्वारा मनुष्य अपना विचार दूसरों पर प्रकट करता है । ये प्रतीक भी कई प्रकार के होते हैं । जैसे नेत्र ग्राह्य श्रोतग्राह्य एवं स्पर्शग्राह्य । वस्तुत: भाषा कि दृष्टि से श्रोतग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेठ हैं ''।

७ ब्लाक और ट्रेगर के अनुसार –भाषा व्यक्त ध्वनि -चिन्हों कि उस पद्धति को कहते हैं ,जिसके माध्यम से समाज- समूह परस्पर व्यवहार करते हैं ।

८ मोरिओ ए. पेइ तथा फ्रेंक गेनर ने अपने शब्दकोश में भाषा कि परिभाषित करते हुये लिखा कि ''मानवों के वर्ग विशेष में पारस्परिक व्यवहार के लिए प्रयुक्त उन ध्वनि चिन्हों को भाषा कहते हैं जिंका अरथा पूर्व निर्धारित एवं परंपरागत होता है तथा जिसका आदान प्रदान जिह्वा और कान के माध्यम से होता है ''।

भाषा की प्रवृत्ति या विशेषतायें

भाषा के सहज स्वभाव व नैसर्गिक गुण को भाषा की प्रकृति , प्रवृत्ति या विशेषता कहा जाता है । भाषा के संदर्भ में कुछ ऐसी विशेषताएं होती हैं, जो दुनियाँ की सभी भाषाओं में समान रूप से पायी जाती हैं । भाषा की आंतरिक विशेषता या व्याकरणिक विशेषता भाषा विशेष की अलग-अलग हो सकती हैं परन्तु भाषा मात्र की प्रकृति एक जैसी होती है । भाषा का गहरा संबंध समाज से है । भाषा के संदर्भ में अब तक हमने जिन बिन्दुओं पर चर्चा की है उसे मोटे तौर पर निम्नलिखित बिन्दुओं में रख सकते हैं –

1. **भाषा सामाजिक व्यवस्था की व्यवस्था है :-** प्रत्येक भाषा की अपनी अलग-अलग आंतरिक और वाह्य संरचना होती है , जिसका निर्धारण हर भाषा में स्वतंत्र रूप से निर्मित होता है । भाव और पदार्थ जगत की वस्तुओं के प्रतीकीकरण के लिए कोई भाषा-भाषी समाज स्वतंत्र होता है ।भाव एवं पदार्थ जगत के किसी वस्तु को कुर्सी, किताब, मेज आदि नाम क्यों है ,इसका कोई तार्किक आधार नहीं होता । यदि प्रतीकीकारण की प्रक्रिया किसी तर्क पर आधारित होती तो दुनियाँ की सभी भाषाओं में किसी वस्तु विशेष के लिए हर भाषा में अलग-अलग नामकरण या प्रतीक न बनते बल्कि नामों व प्रतिकों में समरूपता पायी जाती ।इस प्रकार हर समाज अपनी भाषायी संरचना में प्रतिकों को गढ़ा

हुआ है और वह भाषा-भाषी समाज उस प्रतीकों को मनाने के लिए बाध्य होता है । किसी भी भाषा के आंतरिक व्यवस्था के अनुरूप निश्चित प्रतीकों का ध्वनि अवयवों से स्पस्ट और सार्थक क्रम में आना चाहिए । भाषा वक्ता के वाज्ञेन्द्रियों से ध्वनित होकर ध्वनि-तरंगों के माध्यम से श्रोता के कर्ण एन्द्रिय तक पहुँचकर अमुक बिम्ब का निर्माण करती है । जिससे वक्ता और श्रोता के बीच पदार्थ ,बिम्ब और प्रतीक के सहसंबंध के माध्यम से भावों व विचारों का आदान-प्रदान होता है । यह सामाजिक व्यवस्था की व्यवस्था का ही प्रतिफल है । भाषा के दो रूप –वाचिक और लिखित होते है। बोल-चाल को वास्तविक या प्राथमिक भाषा कहा जाता है । जबकि भाषा में प्रयुक्त प्रतीकों को कोई भाषा-भाषी निश्चित लिपिचिन्हों द्वारा भाषा को स्थायित्व प्रदान करता हैं ,जो देश काल वातावरण की सीमाओं से मुक्त करता है।

2. **भाषा सामाजिक संपत्ति है :-** भाषा जन्मजात और व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामाजिक वस्तु है । यदि यह व्यक्तिगत संपत्ति होती तो व्यक्ति को भाषा की कोई जरूरत ही नहीं होती । तात्पर्य यह है कि जहां समाज होता है वहीं भाषा होती है । किसी बच्चे की परवरिस जिस भाषा-भाषी समाज में होती है उसका सीधा असर उसकी चेतना पर पड़ता है । बच्चे के लालन-पालन में सबसे ज्यादा सानिध्यता माता की होती है , जिसका सीधा प्रभाव बच्चे पर पड़ता है । माता से भाषा का सबसे ज्यादा संस्कार बच्चे पर पड़ने की वजह से ही उसे मातृभाषा कहा जाता है ।वस्तुतः माता द्वारा प्रयुक्त होने वाली अमुक परंपरागत भाषा समाज की ही भाषा होती है । यहाँ सीधा सा मामला भाषाई परिवेश का है । यदि हिन्दी भाषी समाज में पैदा होने वाले बच्चे को रूस के किसी दंपट्टी को दे दिया जाय तो उसकी भाषा हिन्दी न होकर रसियन हो जाएगी क्योंकि वह रसियन भाषायी संरचना में संस्कारित हो रहा है । उसी प्रकार हिन्दी भाषी दंपत्ति यदि रूस में रहे तो वह बच्चा हिन्दी के साथ रसियन भाषा को भी सीख जाता है । तात्पर्य यह है की बच्चा जिन-जिन सामाजिक वातावरण में रहेगा वह वहाँ की भाषायी सामाजिक संपत्ति का हकदार हो जाता है ।

3. **भाषा परंपरागत वस्तु है :-** भाषा सामाजिक वस्तु के साथ-साथ परंपरागत भी होती है । व्यक्ति व समाज को जिस प्रकार अपने पूर्वजों के बहुमूल्य वस्तुएं बिरासत में मिलती हैं उसी में से एक भाषा भी है । समय सापेक्ष परम्पराएँ अपने स्वरूप का विस्तार करती चलती हैं । बहुत सारे ऐसे मूल्य व विशेषताएँ होती हैं जो समय के साथ चुक जाते हैं, और कुछ मूल्य सभ्यता में आए बदलाव के कारण प्रभावी होकर विशेष हो जाते हैं । इन सामाजिक इच्छा आकांक्षा में होने वाले परिवर्तन को भाषा अपने में समाहित करती चलती है और चुक गए संस्कारों हेतु प्रयोग होने वाले शब्दों को केचुल की तरह छोड़ती चलती है । इस प्रकार भाषा अपनी परंपरा का निर्वहन करती हुई नवीन संरचना को ग्रहण करके परंपरा में शामिल करती चलती है । जो पीढ़ी-दर पीढ़ी आगे बढ़ती रहती है।

4. **भाषा अर्जित संपत्ति है :-** भाषा सामाजिक और परंपरागत वस्तु के साथ-साथ अर्जित की जाने वाली संपाती भी है । तात्पर्य यह है कि भाषा जहां सामाजिक संरचना में एक विरासत के रूप में मिलती है, वहीं दूसरी ओर इसका अर्जन किया जाता है । नाक हाथ कान आदि शारीरिक अंगों की तरह भाषा हमें जन्मजात रूप में नहीं मिलती है । उसे व्यक्ति को सीखना पड़ता है। व्यक्ति जिस भाषयी समाज में पैदा होता है उसे उसी भाषा के अनुरूप संस्कारों को सीखना पड़ता है । तात्पर्य यह है कि भाषा जन्मजात वस्तु नहीं है उसे व्यक्ति बौद्धिक कसरत व अनुकरण से सीखना पड़ता है । आधुनिक जीवन पद्धति रोजगार आदि के लिए व्यक्ति को बहुभाषिया बनना पड़ता है इसलिए वह अन्य भाषयें आवश्यकतानुसार सीख लेता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा सामाजिक और परंपरागत वस्तु के साथ-साथ अर्जित की जाने वाली संपत्ति भी है ।

5. **भाषा परिवर्तनशील होती है:-** भौतिक जगत की प्रत्येक वस्तु का विकास उत्कर्ष व क्षरण होता रहता है । फसल आदि की जन्म, विकास,उत्कर्ष ,क्षरण तो चार छः महीनों की होती है जबकि धातुओं और पत्थरों आदि में शताब्दियों खप जाती हैं । इन्हीं में से एक भाषा भी है । इनमें होने वाले परिवर्तन को प्रतिदिन का हिसाब नहीं रखा जा सकता । इसके बदलाव को देखने के लिए एक जीवन नाकाफ़ी है । उदाहरण के लिए व वैदिक संस्कृत को लिया जाय तो पता चलता है कि उसका जो स्वरूप ऋग्वेद में है वह ब्राह्मण ग्रन्थों , आरण्यकों , उपनिषदों में नहीं मिलता है । रामायण – महाभारत तक पहुँचते- पहुँचते वह संस्कृत बिल्कुल बदल गयी । इसी प्रकार की स्थिति पाली ,प्राकृत और अपभ्रंस भाषाओं की रही है । वे भी लोकभाषा से साहित्यिक भाषा की चरम परिणति को प्राप्त होने के बाद क्षरित हो गयी । आज खड़ी बोली संस्कारित होकर शुद्ध एवं परिनिष्ठित भाषा बन चुकी है। उपरयुक्त बदलाव की प्रक्रिया में सालों-साल लगे हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा में सतत विकास व परिवर्तन होता रहता है ।

6. **भाषा का प्रवाह नैसर्गिक व अविच्छिन्न होता है:-** भाषा के नैसर्गिक व अविच्छिन्न प्रवाह की उपमा अक्सर नदी से दी जाती है । जिस प्रकार उद्गम स्थल से समुद्र तक पहुँचने तक उसकी धारा अविच्छिन्न रहती है ,उसी प्रकार भाषा अपने प्रारम्भिक रूप से आज तक प्रवाहमान बनी हुयी है । जिस प्रकार नदी में छोटी-छोटी नदियां आकार उसके स्वरूप में समाहित हो जाती है उसी प्रकार देशज-विदेशज आदि शब्द आकर भाषा के संस्कार में ढल जाते हैं। जैसा कि विदित है भाषा का समाज से गहरा नाता है जबतक समाज रहेगा तबतक भाषा का अस्तित्व बना रहेगा । समाज सभ्यता के आवरण में होने वाले बदलाव के कारण अपनी आवश्यकताओं के लिए भाषा में कुछ शब्द विधान द्वारा

बदलाव तो होता सकता है पर उसे न तो कोई समाप्त कर सकता है और न उत्पन्न । वह अविरल प्रवाह का अदना सा हिस्सा है उसका अस्तित्व उस धारा के सहअस्तित्व में ही है । उससे अलग अपनी सत्ता कायम करने की कोशिश में वह खुद मिट जाएगा ।

7. **भाषा अनुकरण से सीखी जाती है:-** भाषा जन्मजात नहीं होती बल्कि उसे सीखना पड़ता है । कोई बच्चा माता-पिता ,संरक्षक ,समाज या शिक्षक आदि द्वारा प्रयोग की जाने वाली ध्वनियों का अनुकरण करके ही सीखता है । मसलन कोई बच्चा "पा" ध्वनि से कब पापा और पानी कहने लगता है उसे पता नहीं चलता । वह इसी प्रकार अनेक शब्दों का उच्चारण करने लगता है और उसकी अर्थगत संरचना का बोध उसे होता रहता है । धीरे-धीरे घर-परिवार समाज आदि द्वारा प्रयुक्त वाक्यों को अनुकरण के माध्यम से सीखता , समझता और फिर बोलने लगता है । वह समान्य भाव व विचार से जटिल भाओं –विचारों को अभिव्यक्त करने में पारंगत हो जाता है ।
8. **भाषा भाव-सम्प्रेषण का मौखिक व सर्वश्रेष्ठ साधन है :-** सम्प्रेषण के सांकेतिक ,आंगिक, लिखित आदि अनेक माध्यम हैं अर्थात इसमें से किसी एक माध्यम का प्रयोग करके अपने भाव-विचार को व्यक्त किया जा सकता है । परंतु इनकी भी सीमाएं हम देख चुके हैं । केवक लिखित भाषा के सीमाओं पर चर्चा नहीं हुई हैं ।खैर सांकेतिक या आंगिक की अपूर्णता तो स्पस्ट है किन्तु लिखित भाषा की भी अपनी सीमायें हैं । उच्चरित भाषा में ध्वनियों के उतार-चढ़ाव, बलाघात आदि को भंगिमाओं द्वारा जो बिम्बात्मक प्रभाव उत्पन्न किया जाता है वह लिखित भाषा में असंभव है।उच्चारित भाषा में जो जीवंतता पैदा हो सकती है वह लिखित भाषा में संभव नहीं है । लिखित भाषा में जीवंतता पैदा करने के लिए पाठक को अपनी ओर से निर्दिष्ट विचार व मनोभाव हेतु भंगिमाओं का सृजन करना पड़ता है। उदाहरण हेतु लिखित नाटकीय प्रसंगों को पढ़ते हुये हम आप यही करते हैं । तात्पर्य यह है कि भाषा का सर्वप्रमुख उपयोग यह है कि उसे बोलकर परस्परिक भाव -विचार विनिमय का साधन बनाया जाय ।
9. **भाषा की प्रकृति जटिलता से सरलता की ओर उन्मुख होती है:-** भाषा के ऐतिहासिक व क्रमिक विकास का अनुशीलन करने के उपरांत विद्वानों का यह निष्कर्ष है कि भाषा सदैव जटिलता से सरलता कि ओर अग्रसर होती है । मानव की यह प्रवृत्ति होती है कि वह कम से कम प्रयत्न करके अधिक से अधिक लाभ कमा सके ,यह बात भाषा के संदर्भ में भी लागू होती है । वह कम से कम ध्वनि संकेतों को उच्चरित करके अधिक से अधिक भावों-विचारों व सूचनाओं को व्यक्त करना चाहता है।इसी प्रवृत्ति के चलते – उपाध्याय का झा ,स्वर्णकार का सुनार,पुस्तिका का पोथी ,मौक्तिक का मोती,अट्टालिका का अटारी आदि हो गया है ।
10. **भाषा स्थिरीकरण और मानकीकरण से प्रभावित होती है :-** भाषा के संदर्भ में हम देख आए हैं कि परिवर्तन उसका प्रकृतिक गुण है , जिसके चलते उसमें विविधता आती रहती है । इस विविधता के कारण एक युग की भाषा दूसरे युग में बदल जाती है । यदि इस बदलाव को नियंत्रित न किया जाय तो संभव है कि यह परिवर्तन युगों की बजाय पीढ़ियों में दिखाई देने लगे । यदि ऐसा हुआ तो संभव है एक ही पीढ़ी में भाषा अबोध्य बन जाय। इसलिए इसे बोधगम्य बनाए रखने के लिए ढलान से लुढ़कती बेलनाकार पाषाण की सी भाषा-विकास की शक्तिशालिनी गति को रोकने के लिए परंपरा से प्राप्त साहित्य , परिनिष्ठित भाषा की शिक्षा ,व्याकरण व मानकीकारण , प्रिंट व इलेक्ट्रानिक मीडिया आदि को बेलनाकार पाषाण के सामने कठोर टुकड़ों की भांति रखकर भाषा की शक्तिशालिनी दुर्निवार गति को रोकने का प्रयास किया जाता है । जाहिर है इससे भाषा की गति को रोका नहीं जा सकता है परंतु भाषा विकास की गति को मंद जरूर किया जा सकता है । वस्तुत: यह पुरातनता से चिपके रहने की मानवीय मनोवृत्ति का ही परिणाम है । जहां एक तरफ भाषा अपनी परिवर्तनगामी शक्ति के साथ बढ़ती है वहीं दूसरी ओर रूढ़ मनोवृत्ति उसे रोकने की असफल कोशिश करती रहती है । दोनों की स्थिति एक दूसरे के ध्रुवान्ध है । जिस भाषा में भाषा को स्थिरीकरण व मानकीकरण का व्याकरण व साहित्य लिखा नहीं होता है ,उसमें भाषा-परिवर्तन व विकास की गति स्वभावतः होती रहती है ।
11. **भाषा सर्व-व्यापक है :-** समस्त ज्ञान-विज्ञान भाषा की संरचना में ही संभव है । भाषा के बिना हमारे आप के सारे चिंतन ,अनुभूति का आदान-प्रदान संभव नहीं हो सकते । व्यक्ति का व्यक्ति से ,व्यक्ति का समाज से सहसंबंधों की कल्पना नहीं की जा सकती है । समस्त ज्ञान-विज्ञान का विचार भाषा में ही फलीभूत होते है । यदि मनुष्यों के पास भाषा न होती तो वह किसी गिरकंद्रा में पशुवत जीवन जीता । भाषा के आभाव में दुनिया आज जैसी दिखती है संभव न होता ।अत: यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि पूरा ब्रह्मांड भाषाई संरचना की देन है ।
12. **सभी भाषायें अपने आप में पूर्ण होती हैं :-** सभी भाषायें अपने भौगोलिक दायरे रहने वाले व्यक्ति व समाज के पारस्परिक भाव-विचार विनिमय में समर्थ होती हैं । किसी भाषा को बोलने वालों की संख्या कम हो या अधिक , सभ्य हो असभ्य , शिक्षित हो या अशिक्षित सबका काम बखूबी चलता है । किसी को अपनी भाषा में कोई दिक्कत या कमी नहीं मससूस होती । क्योंकि कोई भी भाषाई समाज अपने सामाजिक सांस्कृतिक राजनैतिक वैज्ञानिक आदि जितने आवरण विकसित किए हैं, उनकी अभिव्यक्ति हेतु भाषा में शब्द-विधान मौजूद होते हैं । उनका काम भाव-विचार विनिमय में बिना किसी बाधा के चलता है । आज काल किसी भाषा का कमजोर या मजबूत होने के दावे किए जाते हैं

इसका मोटा-मोटा कारण यह है कि जो भाषाई समाज आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और तकनीकि में आगे हो गए हैं उसमें रोज़गार कि संभावना अधिक है उसे मजबूत और जिसमें यह मौके बहुत काम हैं उसे कमजोर या पिछड़ी भाषा कह दिया जाता है ,जो नितांत गलत और भ्रमपूर्ण है। माना कि किसी भाषाई समाज में आधुनिक तकनीकि, विज्ञान,अनुसंधान से नहीं परिचित है तो जाहिर ऐसी शब्दावलियों का अमुक भाषा में आभाव होना लाज़मीन है। लेकिन जब वह समाज आधुनिक विकास विज्ञान तकनीकि आदि के क्षेत्र में उन्नति करेगा तो वह भाषा भी नवीन वस्तुओं के प्रतिकीकरण का कार्य कर लेगी । आधुनिक युग में प्रगति किए हुये समाज को आगे व विकास के दौर में पीछे छूट गए समाज को पीछे कहा जा सकता है लिकिन इसके आधार पर किसी भाषा को मजबूत और कमजोर कहना अनुचित है । क्योंकि सभी भाषाएँ अपने बोलने वाले समाज की जरूरतों को पूरा करती है,यह भाषाओं की पूर्णता का ही परिचायक है ।

आधारग्रन्थ सूची :-

१-भारतीय भाषा विज्ञान -आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ,वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली द्वितीय संस्करण २००८
२- भाषा विज्ञान -डॉ. भोलानाथ तिवारी ,किताब महल प्रकाशन न्यास मार्ग अशोक नगर इलाहाबाद ५७ संस्करण २०१३
३-भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र -डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ,विश्वविध्यालय प्रकाशन वाराणसी संस्करण २०१४
४-भाषा विज्ञान – श्यामसुंदर दास,लोकभरती प्रकाशन प्रयागराज संस्करण २०२०
५-भाषा विज्ञान कि भूमिका -आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ,राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली चौथा संस्करण २०१०
६-हिन्दी भाषा का उद्गम और विकाश -उदयनारायण तिवारी ,लोकभरती प्रकाशन प्रयागराज संस्करण २०२१
७-भाषा विज्ञान का रसायन -कैलाशनाथ पाण्डेय ,लोकभरती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण २०१०
८-आधुनिक भाषा विज्ञान -डॉ. राजमणि शर्मा ,वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली चतुर्थ संस्करण २००९
९-आधुनिक भाषा विज्ञान के सिद्धांत -रामकिशोर शर्मा लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद छठा संस्करण २०१६
१०-भाषा विज्ञान के सिद्धांत -डॉ. मीरा दीक्षित ,सुमित प्रकाशन इलाहाबाद कि ओर से लोकभरती प्रकाशन इलाहाबाद ,छठा संस्करण २०१८
११-भाषा कि भीतरी परतें- स.ऋषभदेव शर्मा , वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली प्रथम संस्करण २०१२
१२-भाषा का संसार -प्रो. दिलीप सिंह , वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली द्वितीय संस्करण २०११
१३-भाषा विज्ञान सैद्धांतिक चिंतन -रवींद्र श्रीवास्तव ,राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली चौथा संस्करण २०१४
१४-आधुनिक भाषा विज्ञान -कृपाशंकर सिंह /चतुर्भुज सहाय, वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली प्रथम संस्करण २०१०
१५-भाषा,भाषा विज्ञान और राजभाषा हिन्दी-महेन्द्रनाथ दुबे / डॉ. मीनाक्षी दुबे , वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली प्रथम संस्करण २०१०
१६-भाषा विज्ञान कर्णसिंह -साहित्य भंडार मेरठ १७ वाँ संस्करण २००६
१७-भाषा विज्ञान -प्रो. महावीर सरन जैन - लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण २०२५

21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में ग्राम–बोध और बदलते सरोकार

भवानी सिंह गुर्जर*
डॉ. रेखा शेखावत**

सारांश -

यह शोध-आलेख 21वींसदी के हिंदी उपन्यास-साहित्य के धरातल पर भारतीय ग्रामीण जीवन के बोध और ग्राम जीवन के बदलते सरोकारों को प्रस्तुत करता है। उदारीकरण, वैश्विक बाजार और डिजिटल क्रांति की त्रिवेणी ने 21वीं सदी के ग्राम्य-परिवेश की सामाजिक बुनावट और आर्थिक मूल्यों को आमूल-चूल परिवर्तित कर दिया है। पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में गाँव की जो 'आंचलिक आत्मीयता' और 'सामूहिक लोक-चेतना' प्रधान छवि थी, वह वर्तमान उपन्यासों में एक गहरे 'अस्तित्वमूलक संकट' और वैचारिक द्वंद्व में तब्दील होती दिखाई देती है। प्रस्तुत शोध में ग्रामीण जीवन में आये सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों का विश्लेषण किया जायेगा। साथ ही यह भी विश्लेषण किया जायेगा कि उपभोक्तावादी संस्कृति द्वारा पारंपरिक संयुक्त परिवारों के विघटन, खेती के बढ़ते संकट और नई पीढ़ी के मोहभंग जनित पलायन, राजनीतिक अपराधीकरण और तीव्र जातिगत ध्रुवीकरण आदि सभी कारकों ने किस प्रकार से ग्रामीण संवेदनाओं को 'सांस्कृतिक विस्थापन' की ओर धकेला है

बीज-शब्द- यथार्थ, परिवर्तन, कृषि संकट, पलायन, शहरीकरण, वैश्वीकरण, बाजारवाद, दलित चेतना, मूल्यों का पतन, भ्रष्टाचार।

प्रस्तावना-

भारतीय सामाजिक संरचना के मूल में गाँव रचे-बसे हैं, किंतु वर्तमान वैश्विक परिदृश्य और बाजारीकरण की तीव्र लहर ने ग्रामीण जीवन की आधारभूत पहचान को ही संकट में डाल दिया है। हिंदी कथा-साहित्य, विशेषकर उपन्यास विधा ने, सदा से ही ग्रामीण अंचलों के सुख-दुख को स्वर दिया है। एक समय था जब प्रेमचंद के उपन्यासों में सामंती उत्पीड़न और होरी का जीवट संघर्ष मुख्य था, तो वहीं रेणु के कालखंड में ग्रामीण संस्कृति की सोंधी महक और आंचलिक राग-रंग का वर्चस्व था। परंतु, 21वीं सदी के समकालीन कथा-लेखन में वह 'रोमानी' ग्राम-छवि अब विलुप्तप्राय है। आज का गाँव एक गहरे द्वंद्व और संक्रमण काल से गुजर रहा है। वह अपनी प्राचीन परंपराओं से तो कट चुका है, किंतु आधुनिकता के स्वस्थ मूल्यों को भी पूरी तरह आत्मसात नहीं कर पाया है। समकालीन उपन्यासकार अब गाँव को महज 'प्रकृति की गोद' नहीं मानते, बल्कि उसे सत्ता के क्रूर खेल, जातिगत वैमनस्य और आर्थिक विषमता के एक ऐसे अखाड़े के रूप में देखते हैं जहाँ निरंतर संघर्ष जारी है। काशीनाथ सिंह का उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' उपभोक्तावाद के उस दंश को चित्रित करता है जो संयुक्त परिवारों की बुनियाद हिला रहा है। वहीं, मिथिलेश्वर की कृति 'तेरा संगी कोई नहीं' उस दुखद सत्य को उजागर करती है जहाँ कृषि कार्य घाटे का सौदा हो गया है। गाँव के बदलते चेहरे का एक और भयावह स्वरूप अखिलेश के 'निर्वासन' और शिवमूर्ति के 'अगम बहे दरियाव' में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ 'निर्वासन' केवल देह का नहीं, बल्कि आत्मा और संस्कृति का भी है। राजनीति का अपराधीकरण और कट्टर जातिवाद आज के ग्रामीण परिवेश को भीतर से लहूलुहान कर रहे हैं। अतः, प्रस्तुत शोधपत्र का मुख्य ध्येय 21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों के आलोक में ग्रामीण जीवन के इन नवीन और जटिल आयामों का अनुशीलन करना है। यह शोध

* शोधार्थी (हिंदी), संगम विश्वविद्यालय, भीलवाड़ा, राजस्थान, ई–मेल: bhawanisinghgurjar59@gmail.com
** शोध निर्देशिका, हिंदी विभाग, संगम विश्वविद्यालय, भीलवाड़ा, राजस्थान

इस तथ्य का विश्लेषण करेगा कि सूचना क्रांति और वैश्विक बाजार के प्रभाव तले ग्रामीण समाज में कौन-कौन से परिवर्तन आये है।

भारत जैसे कृषि-प्रधान राष्ट्र में, जिसकी सांस्कृतिक चेतना और आर्थिक संरचना की जड़ें भूमि से गहरे जुड़ी रही हैं, आज एक गहरा और चिंताजनक विरोधाभास दृष्टिगोचर होता है। जिस धरती को परंपरागत रूप से 'माता' का दर्जा देकर सम्मानित किया जाता रहा है, उसी धरती पर श्रम करने से समकालीन युवा पीढ़ी धीरे-धीरे विमुख होती जा रही है। कृषि कार्य के प्रति युवाओं में बढ़ता यह मोहभंग केवल एक सामाजिक परिवर्तन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह आने वाले समय में खाद्य-सुरक्षा और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के लिए गंभीर संकट का संकेत भी देता है। प्राचीन समाज में प्रचलित उक्ति 'उत्तम खेती, मध्यम बान' खेती को सर्वोत्तम आजीविका मानती थी, किंतु वर्तमान परिदृश्य में यह मान्यता उलटती हुई दिखाई देती है। आज का युवा वर्ग कृषि को कम लाभकारी और पिछड़ेपन से जुड़ा कार्य मानकर उससे दूरी बना रहा है, जिसके परिणामस्वरूप गाँवों से शहरों की ओर पलायन की प्रक्रिया तीव्र और निरंतर होती जा रही है। 'तेरा संगी कोई नहीं' उपन्यास का पात्र कुल्लराखन अपने पिता से कहता है-"खेती अब घाटे का सौदा हो गई है पिता जी। खेती से जुड़े रहने में अब कोई लाभ नहीं। खेती में जितना श्रम, संघर्ष और खर्च है उसकी तुलना में उपार्जन नगण्य, उल्टे खेती की परेशानियों से जीवन का सुख-चैन भी गायब, निरंतर असुरक्षा और आतंक के माहौल में रहना। हमें समय रहते खेतों को बेचकर अपनी पूँजी शहर में स्थानान्तरित कर लेनी चाहिए। अभी खेतों के खरीददार है भी। समय जिस तेजी से बदल रहा है कि आगे के दिनों में खेतों के खरीददार भी नहीं मिलेंगें।"[1]

गाँव लंबे समय तक भारत की सांस्कृतिक चेतना के आधार स्तंभ रहे हैं, जहाँ की शांति, निर्मलता और सामूहिक जीवन-पद्धति ने हमारी सभ्यता को निरंतर पोषित किया है। परंतु समकालीन परिदृश्य में ग्रामीण भारत एक गहन संक्रमण के दौर से गुजर रहा है, जिसका सबसे प्रत्यक्ष और प्रभावी संकेत व्यापक पलायन के रूप में सामने आता है। गाँवों से नगरों की ओर हो रहा यह जन-प्रवाह केवल भौगोलिक स्थानांतरण नहीं, बल्कि ग्रामीण जीवन-आत्मा के क्रमिक क्षरण की प्रक्रिया है। आर्थिक विवशताओं तथा बेहतर जीवन की आकांक्षा में जब युवा वर्ग शहरों की ओर अग्रसर होता है, तब गाँवों में पीछे रह जाते हैं वृद्धजन, बंद पड़े घर और उजड़ते खेत। परिणामस्वरूप गाँवों की सामाजिक संरचना बिखरने लगती है और वे धीरे-धीरे अपनी पहचान खोकर 'कस्बानुमा' बस्तियों में परिवर्तित होते जा रहे हैं। 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में काशीनाथ सिंह लिखते है-"बनारस में मोहल्ले थे, नगर, विहार और कालोनियां नहीं। इनका निर्माण शुरु हुआ 1980-90 के आसपास जब पूर्वांचल और बिहार में भू माफियाओं और बाहुबलियों का उदय हुआ! उन्होंने नगर के दक्खिन, पश्चिम और उत्तर बसे गाँव के गाँव खरीदे और उनकी 'प्लाटिंग' करके बेचना शुरु किया! देखते-देखते पंद्रह-बीस वर्षों के अन्दर गाँव के वजूद ख़त्म हो गए और उनकी जगह नए-नए नामों के साथ नगर, कालोनियाँ और विहार बस गए।"[2] इस पलायनजन्य परिवर्तन ने गाँवों के भौतिक और सांस्कृतिक स्वरूप को भी मूलतः प्रभावित किया है। जो गाँव कभी हरियाली, कच्ची पगडंडियों और खुले आँगनों के प्रतीक थे, वे अब अनियोजित कंक्रीट संरचनाओं में सीमित होते जा रहे हैं। शहरी जीवन-शैली के प्रभाव में गाँवों में छोटे, बंद और दिखावटी मकानों का प्रचलन बढ़ रहा है। कृषि आधारित अर्थव्यवस्था का स्थान अब छोटी दुकानों, मैकेनिक कार्यशालाओं और मोबाइल मरम्मत केंद्रों जैसी गतिविधियाँ ले रही हैं। गाँवों के मध्य से गुजरती पक्की सड़कें और उन पर निरंतर दौड़ते वाहन एक ऐसे अर्ध-शहरी परिवेश का बोध कराते हैं, जो न तो पूर्णतः शहर है और न ही उसमें पारंपरिक ग्रामीण गरिमा शेष रह गई है। इस 'कस्बाई संस्कृति' ने गाँवों की आत्मनिर्भरता को क्षीण कर उन्हें उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों पर आश्रित बना दिया है। सबसे गहरा प्रभाव ग्रामीण सामूहिकता और लोक-संस्कृति पर पड़ा है। कभी चौपालों पर होने वाली सामूहिक चर्चाएँ, लोकगीतों की गूंज और पर्व-त्योहारों पर उमड़ने वाला साझा उल्लास अब मोबाइल स्क्रीन और व्यक्तिगत एकांत में सिमट गया है। शहरों से लौटने वाला व्यक्ति अपने साथ जो जीवन-शैली और मूल्यबोध

लाता है, वह धीरे-धीरे ग्रामीण सादगी पर हावी हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप गाँवों में भी प्रदर्शन, प्रतिस्पर्धा और उपभोग की मानसिकता पनपने लगी है। खेतों में श्रम करने की अपेक्षा युवा वर्ग अब कस्बाई बाजारों में समय बिताना अधिक पसंद करने लगा है, जिससे कृषि के प्रति उदासीनता बढ़ रही है। यह प्रवृत्ति ग्रामीण अर्थव्यवस्था को ऐसे संकट की ओर ले जा रही है, जहाँ उत्पादन घटता जा रहा है और निर्भरता निरंतर बढ़ती जा रही है। "जहाँ एक और किसानों की खेती कमजोर हुई है, कृषि व्यवस्था की बुनियाद डगमगाई है, वहीं जीविका के अपने परम्परित स्रोत से अलग बनिहार-चरवाह और खेत-मजदूर गाँव से शहर तक अपना पेशा बदलने तथा गाँवों से पलायन करते रहे है।"[3]

भारतीय ग्रामीण समाज लंबे समय तक परंपरागत सामाजिक संरचनाओं और रूढ़ मान्यताओं के अधीन संचालित होता रहा है, जहाँ जाति और लैंगिक आधार पर व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और अधिकार निर्धारित किए जाते थे। इस व्यवस्था में उच्च जातियों और पुरुष वर्ग का प्रभुत्व स्थापित था, जिसके कारण दलितों और स्त्रियों को सामाजिक जीवन के हाशिए पर धकेल दिया गया। शिवमूर्ति कृत 'अगम बहे दरियाव' में सारे गाँव के जमींदार मिलकर पारससिंह को समझाते हुए कहते है-"गाँव का जीवन-संघर्ष दो पहलवानों की कुश्ती जैसा है। जो पहलवान नीचे पड गया वह तब तक ऊपर नहीं आ सकता जब तक ऊपर वाले पहलवान की पकड़ ढीली नहीं पड जाती। ढीली पड़ते ही नीचे वाला उसे पलटकर उसकी छाती पर सवार हो जायेगा। दलितों को हम इसीलिए दबाए रखने को मजबूर करते है कि वे हमारी छाती पर सवार न हो जाएँ। जिन्दा रहने भर को ही मजदूरी देना भी उन्हें दबाए रहने का एक दाँव हैं।"[4] किंतु समय के साथ सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र हुई और आज गाँवों में दलित तथा स्त्री चेतना का उभार एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक यथार्थ के रूप में सामने आया है। 'अगम बहे दरियाव' उपन्यास में शिवमूर्ति लिखते है-"प्रभाकर ने अपने कान से सुना था। दहबंगा किसी औरत को बता रही थी कि सूबे की सबसे ऊँची कुर्सी अपनी बिरादरी की औरत को मिली है। जब से दुनिया बनी है, पहली बार ऐसा हुआ है। अब छोटी-बड़ी हर जाति के आदमी को उनका हुकुम मानना पड़ेगा। सामने पड़ने पर डीएम, एसपी तक को हाथ जोड़ना पड़ेगा।"[5] यह परिवर्तन मात्र बाहरी दबावों का परिणाम नहीं, बल्कि शिक्षा, जागरूकता और आत्मबोध से उत्पन्न एक गहन आंतरिक परिवर्तन का संकेत है। दलित चेतना के विकास में आधुनिक शिक्षा की भूमिका निर्णायक रही है। संवैधानिक अधिकारों और लोकतांत्रिक मूल्यों की जानकारी ने दलित समाज को यह बोध कराया है कि सामाजिक विषमता और शोषण उनकी अपरिहार्य नियति नहीं है। डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों ने ग्रामीण दलित वर्ग को आत्मसम्मान, संगठन और संघर्ष की चेतना प्रदान की। परिणामस्वरूप, जो वर्ग कभी अपमान, बहिष्कार और मौन का शिकार था, वह आज अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर संगठित रूप से अपनी आवाज उठा रहा है। पंचायतों में सहभागिता, आरक्षण के माध्यम से नेतृत्व के अवसर और सरकारी योजनाओं के प्रति बढ़ती जागरूकता ने दलितों को सामाजिक तथा राजनीतिक स्तर पर सशक्त बनाया है। गाँव की चौपालों और सार्वजनिक जीवन में उनकी सक्रिय उपस्थिति सामाजिक सत्ता-संतुलन में आ रहे परिवर्तन को स्पष्ट करती है। इसी क्रम में ग्रामीण स्त्री चेतना का विकास भी भारतीय समाज के बदलते स्वरूप को रेखांकित करता है। पारंपरिक ग्रामीण संरचना में स्त्री को परिवार और समाज की सीमित भूमिकाओं तक बाँध दिया गया था, किंतु शिक्षा, आर्थिक स्वावलंबन और विधिक अधिकारों की जानकारी ने इस स्थिति को धीरे-धीरे परिवर्तित किया है। स्वयं सहायता समूहों, आंगनवाड़ी व्यवस्था, पंचायतों में आरक्षण तथा विभिन्न सरकारी योजनाओं ने ग्रामीण महिलाओं को आत्मनिर्भर बनने का अवसर प्रदान किया है। अब ग्रामीण स्त्रियाँ केवल घरेलू दायित्वों तक सीमित न रहकर निर्णय-निर्माण की प्रक्रियाओं में भागीदारी और सम्मानजनक सामाजिक स्थान की आकांक्षा व्यक्त कर रही हैं। दलित और स्त्री चेतना का यह समवर्ती उभार ग्रामीण समाज में गहरे और संरचनात्मक परिवर्तन का द्योतक है। यह प्रक्रिया परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व के बीच विकसित हो रही है, जहाँ एक ओर पुरानी रूढ़ियाँ टूट रही हैं, वहीं दूसरी ओर समानता, न्याय और मानव गरिमा जैसे मूल्यों की

स्थापना हो रही है। यद्यपि ग्रामीण समाज में भेदभाव, हिंसा और असमानता की समस्याएँ पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं, फिर भी चेतना का यह विकास भविष्य के प्रति आशावाद का संकेत देता है। इस प्रकार गाँवों में दलित और स्त्री चेतना का विकास भारतीय लोकतंत्र और सामाजिक न्याय की नींव को और अधिक सुदृढ़ करता है तथा समूचे ग्रामीण समाज को अधिक समतामूलक, संवेदनशील और मानवीय दिशा में अग्रसर करता है।

भारतीय ग्रामीण समाज में संयुक्त परिवार प्रणाली लंबे समय तक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की रीढ़ के रूप में स्थापित रही है। इस व्यवस्था के अंतर्गत अनेक पीढ़ियाँ एक ही छत के नीचे रहकर परस्पर सहयोग, सामूहिक श्रम, अनुभव-साझेदारी और भावनात्मक संरक्षण का स्वाभाविक वातावरण निर्मित करती थीं। किंतु बदलते समय के साथ ग्रामीण जीवन में आए व्यापक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों ने इस परंपरागत संरचना को क्रमशः कमजोर किया है। कृषि की घटती लाभप्रदता, भूमि के निरंतर विभाजन, रोज़गार की तलाश में युवाओं का शहरों की ओर पलायन, शिक्षा का विस्तार तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता और निजी आकांक्षाओं की बढ़ती चेतना ने संयुक्त परिवार की एकता को प्रभावित किया है। इसके अतिरिक्त आधुनिक जीवन-शैली, उपभोक्तावादी मानसिकता और शहरी संस्कृति के प्रभाव ने भी ग्रामीण परिवारों को एकल पारिवारिक ढाँचे की ओर उन्मुख किया है। स्त्री शिक्षा और अधिकार-बोध के परिणामस्वरूप पारंपरिक पारिवारिक भूमिकाओं में आए परिवर्तन ने कई बार संयुक्त परिवारों में तनाव और असंतुलन की स्थिति को जन्म दिया है। फलस्वरूप ग्रामीण समाज में संयुक्त परिवारों के स्थान पर छोटे एवं एकल परिवारों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। संयुक्त परिवार का यह विघटन जहाँ एक ओर व्यक्ति को स्वतंत्र निर्णय और आत्मनिर्भरता का अवसर प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक सहयोग, पारिवारिक सुरक्षा और सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास जैसी चुनौतियाँ भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार ग्रामीण संयुक्त परिवार का विघटन परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व को प्रत्यक्ष रूप में उद्घाटित करता है। काशीनाथ सिंह अपने उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में लिखते है- "रघुनाथ भी चाहते थे कि बेटे आगे बढ़ें! वै खेत और मकान नहीं है कि अपनी जगह ही न छोड़ें! लेकिन यह भी चाहते थे कि ऐसा भी मौका आए जब सब एक साथ हो, एक जगह हों-आपस में हँसें, गाएँ, लड़ें, झगड़ें, हा-हा हू-हू करें, खाएँ पिएँ घर का सन्नाटा टूटे। मगर कई साल हो रहे है और कोई कहीं है, कोई कहीं। और बेटे आगे बढ़ते हुए इतने आगे चले गए है कि वहां से पीछे देखें भी तो न बाप नजर आएगा न माँ।"[6]

भारतीय गाँव लंबे समय तक आत्मनिर्भरता, सरल जीवन-शैली और सामूहिक मूल्यों के प्रतीक रहे हैं। ग्रामीण समाज की आर्थिक संरचना मुख्यतः कृषि, पशुपालन और कुटीर उद्योगों पर आधारित थी, जहाँ उपभोग का स्तर आवश्यकता तक सीमित रहता था और जीवन में संतुलन बना रहता था। किंतु उदारीकरण, वैश्वीकरण और बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था के प्रभाव के साथ ही गाँवों में उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों का तीव्र प्रसार देखने को मिलता है। आज ग्रामीण जीवन में उपभोग केवल जीवनोपयोगी जरूरतों की पूर्ति तक सीमित न रहकर सामाजिक प्रतिष्ठा, प्रदर्शन और प्रतिस्पर्धा का माध्यम बनता जा रहा है। संचार और सूचना-प्रौद्योगिकी के विस्तार ने ग्रामीण समाज को शहरी बाज़ार व्यवस्था से सीधे जोड़ दिया है। टेलीविजन, मोबाइल फोन, इंटरनेट और सोशल मीडिया के माध्यम से शहरी जीवन-शैली, फैशन और ब्रांड संस्कृति गाँवों तक सहज रूप से पहुँच गई है। इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में भी महंगे मोबाइल फोन, मोटरसाइकिल, इलेक्ट्रॉनिक उपकरण, ब्रांडेड वस्त्र और उपभोक्ता सामग्रियों की माँग निरंतर बढ़ रही है। गाँवों के पारंपरिक बाजारों का स्वरूप भी बदल गया है; अब वहाँ छोटी दुकानों के स्थान पर शोरूम, मोबाइल सर्विस सेंटर और उपभोक्ता वस्तुओं की दुकानें दिखाई देने लगी हैं। उपभोक्तावाद के इस विस्तार का गहरा प्रभाव ग्रामीण अर्थव्यवस्था और सामाजिक संरचना पर पड़ा है। जहाँ पहले ग्रामीण समाज उत्पादन-प्रधान था, वहीं अब वह धीरे-धीरे उपभोग-केंद्रित होता जा रहा है। कृषि और पारंपरिक श्रम की अपेक्षा नकद आय, उपभोक्ता सुविधाओं और आरामदेह जीवन को अधिक महत्व मिलने लगा है। इसके कारण युवा वर्ग कृषि से विमुख होकर कस्बों और शहरों की ओर रोजगार की तलाश में

आकर्षित हो रहा है। साथ ही, आसान ऋण व्यवस्था और किस्तों पर उपलब्ध उपभोक्ता वस्तुओं ने अनेक ग्रामीण परिवारों को कर्ज़ के दबाव में भी ला खड़ा किया है। उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रभाव ग्रामीण सामाजिक मूल्यों पर भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। आपसी सहयोग, सादगी और सामूहिकता जैसे पारंपरिक मूल्य धीरे-धीरे कमजोर हो रहे हैं और उनकी जगह व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ, प्रतिस्पर्धा तथा दिखावे की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। विवाह, त्योहार और अन्य सामाजिक आयोजनों में बढ़ता अनावश्यक खर्च सामाजिक दबाव का रूप ले चुका है, जिससे आर्थिक असमानता और पारिवारिक तनाव की स्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं। इस प्रकार गाँवों में उपभोक्तावाद का प्रवेश ग्रामीण जीवन के पारंपरिक स्वरूप को गहराई से प्रभावित कर रहा है। यद्यपि यह आधुनिक सुविधाओं, बाहरी दुनिया से संपर्क और जीवन-स्तर में सुधार का अवसर प्रदान करता है, किंतु इसके साथ ही आत्मनिर्भरता, संतुलित जीवन-दृष्टि और सांस्कृतिक मूल्यों के क्षरण की चुनौती भी सामने आती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण समाज में विकास और उपभोग के बीच संतुलन स्थापित किया जाए, ताकि आधुनिकता के साथ-साथ ग्रामीण जीवन की मूल आत्मा और सामाजिक संरचना सुरक्षित रह सके। 'रेहन पर रग्घू' में काशीनाथ सिंह लिखते है-"काफी समय लग गया रघुनाथ को घर पर रहने की आदत डालने में। वे रहे तो गाँव में ही लेकिन गाँव के नहीं रहे। गाँव ही वह नहीं रहा तो वह गाँव के क्या रहते? पहाडपुर जाना जाता था अपने बगीचों, बंसवार और पोखर के कारण- जहां चिड़ियों की चहचहाहट और गायों भैंसों के रंभाने और बैलों की घंटियों की टनटनाहट से बस्तियां गूँजती रहती थी लेकिन अब पेड़ कट गए थे, बंसवार साफ़ हो गयी थी और पोखर धान के खंधों में बंट गई थी जिसके किनारे प्राइमरी स्कूल खुल गया था। उसी के बगल में दवाखाना के लिए जमीन भी घेर ली गई थी।"[7]

भारतीय गाँव परंपरागत रूप से सामूहिक चेतना, पारस्परिक सहयोग और साझा उत्तरदायित्वों की संस्कृति के वाहक रहे हैं। ग्रामीण समाज में व्यक्ति का अस्तित्व समुदाय से अभिन्न रूप से जुड़ा होता था, जहाँ सुख-दुःख, श्रम और संसाधनों का सामूहिक उपयोग सामाजिक जीवन की मूल व्यवस्था था। किंतु आधुनिक काल में तीव्र सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के प्रभाव से गाँवों में व्यक्तिवाद और स्वार्थ की प्रवृत्तियाँ तेजी से उभरने लगी हैं। यह बदलाव केवल जीवन-शैली तक सीमित न रहकर ग्रामीण समाज की आधारभूत सामाजिक संरचना को प्रभावित कर रहा है। शिक्षा के विस्तार, नगरीकरण, औद्योगीकरण तथा संचार माध्यमों के विकास ने ग्रामीण मानसिकता में उल्लेखनीय परिवर्तन किया है। आज ग्रामीण व्यक्ति अपनी उन्नति, सुविधाओं और भविष्य की योजनाओं को सामूहिक हितों की तुलना में व्यक्तिगत लाभ के संदर्भ में अधिक देखने लगा है। रोजगार, आय और सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतिस्पर्धा ने व्यक्ति को परिवार और समुदाय से अलग होकर निर्णय लेने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। इसका प्रत्यक्ष परिणाम संयुक्त परिवार व्यवस्था के कमजोर होने और एकल परिवारों की संख्या में वृद्धि के रूप में सामने आया है। बाज़ारवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति ने भी ग्रामीण जीवन में स्वार्थपरक सोच को बल दिया है। जहाँ पहले संसाधनों और सुविधाओं का साझा उपयोग सामान्य था, वहीं अब निजी स्वामित्व, व्यक्तिगत लाभ और दिखावे को अधिक महत्व मिलने लगा है। कृषि, जो कभी सामूहिक श्रम और सहयोग पर आधारित थी, अब प्रतिस्पर्धा और मुनाफे की मानसिकता से संचालित होने लगी है, जिससे आपसी सहयोग और भाईचारे की भावना में कमी आई है। व्यक्तिवाद का प्रभाव ग्रामीण सामाजिक संबंधों में भी स्पष्ट दिखाई देता है। पहले गाँवों में विश्वास, सहयोग और नैतिक उत्तरदायित्व प्रमुख थे, किंतु अब स्वार्थ के कारण रिश्तों में दूरी, संदेह और टकराव बढ़ने लगे हैं। पंचायत, चौपाल और सामूहिक निर्णय की परंपराएँ धीरे-धीरे कमजोर पड़ रही हैं, क्योंकि लोग सामूहिक समस्याओं के समाधान के बजाय व्यक्तिगत हितों को प्राथमिकता देने लगे हैं। काशीनाथ सिंह 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में लिखते है कि "गाँव पर पुश्तैनी जमीन जायदाद। बाप दादों की धरोहर। न देखो तो कब दुसरे कब्ज़ा कर लें, कहना मुश्किल। पुरखों ने तो एक-एक कौड़ी बचा कर, पेट काट कर, जोड़-जोड़ कर जैसे-तैसे जमीनें बढ़ाई ही, चार की पांच ही कीं-तीन नहीं होने दीं

और यहाँ यह हाल ! जरा सा गाफिल हुए कि मेड गायब ! महीने दो महीने में कम से कम एक बार गाँव का चक्कर लगाते रहो। देख लें लोग कि नहीं, है; ध्यान हैं।"[8] इस प्रकार गाँवों में व्यक्तिवाद और स्वार्थ का बढ़ता प्रभाव ग्रामीण समाज में हो रहे गहरे परिवर्तनों का द्योतक है। यद्यपि व्यक्तिवाद व्यक्ति को स्वतंत्रता, आत्मनिर्णय और विकास के अवसर प्रदान करता है, फिर भी अत्यधिक स्वार्थ सामाजिक एकता, सहयोग और सामुदायिक मूल्यों को कमजोर करता है। इसलिए आवश्यक है कि ग्रामीण समाज में व्यक्तित्व के विकास और सामूहिक हितों के बीच संतुलन स्थापित किया जाए, ताकि सामाजिक सौहार्द बना रहे और ग्रामीण जीवन की मूल आत्मा सुरक्षित रह सके।

भारतीय ग्रामीण राजनीति का स्वरूप लंबे समय तक सामूहिक निर्णय, परंपरागत नेतृत्व और सामाजिक संबंधों पर आधारित रहा है। गाँवों में सामान्यतः फैसले बुज़ुर्गों, प्रभावशाली परिवारों या सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से किए जाते थे, जहाँ व्यक्तिगत मतभेदों की अपेक्षा सामूहिक हितों को प्राथमिकता दी जाती थी। परंतु समय के साथ आए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों ने ग्रामीण राजनीति की दिशा और प्रकृति को गहराई से प्रभावित किया है। आज के संदर्भ में गाँवों की राजनीति में गुटबाजी एक सशक्त और निर्णायक प्रवृत्ति के रूप में उभरकर सामने आई है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के विस्तार, पंचायती राज संस्थाओं की सक्रियता और चुनावी राजनीति के प्रभाव ने ग्रामीण समाज को राजनीतिक रूप से जागरूक और सक्रिय बनाया है, लेकिन इसके साथ ही सत्ता, संसाधनों और लाभों को लेकर प्रतिस्पर्धा भी बढ़ी है। पंचायत चुनावों, सरकारी योजनाओं के वितरण और स्थानीय सत्ता पर नियंत्रण की होड़ ने गाँवों को विभिन्न राजनीतिक गुटों में विभाजित कर दिया है। ये गुट प्रायः जाति, परिवार, आर्थिक स्वार्थ या राजनीतिक दलों की निष्ठा के आधार पर बनते हैं, जिससे ग्रामीण समाज की पारंपरिक एकता प्रभावित हो रही है। बदलती ग्रामीण राजनीति में जाति की भूमिका विशेष रूप से प्रभावशाली बन गई है। जहाँ पहले जाति सामाजिक पहचान तक सीमित थी, वहीं अब वह राजनीतिक शक्ति और प्रभाव का माध्यम बन चुकी है। विभिन्न जातीय समूह अपने हितों की सुरक्षा और वर्चस्व स्थापित करने के लिए संगठित होकर गुटीय राजनीति को बढ़ावा दे रहे हैं। इससे एक ओर राजनीतिक चेतना का विस्तार हुआ है, तो दूसरी ओर संघर्ष, तनाव और विभाजन की प्रवृत्तियाँ भी मजबूत हुई हैं। ग्रामीण राजनीति में गुटबाजी का असर सामाजिक संबंधों पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। "गाँव की राजनीति में संबंध शहर और देश की राजनीति की तरह नहीं होते। वहां दलगत राजनीति भी कोई खास मायने नहीं रखती। गाँव की राजनीति में अधिकतर संबंध व्यक्तिगत राग-द्वेष या स्वार्थ के आधार पर होते हैं।"[9] राजनीतिक मतभेद अब केवल विचारों तक सीमित न रहकर पारिवारिक रिश्तों, आपसी मेलजोल और सामुदायिक सौहार्द को प्रभावित करने लगे हैं। चुनावों के दौरान गाँवों का दो या अधिक गुटों में बँटना आम हो गया है, जिसका प्रभाव चुनाव समाप्त होने के बाद भी लंबे समय तक बना रहता है। सहयोग और विश्वास के स्थान पर प्रतिस्पर्धा, संदेह और स्वार्थ की भावना प्रमुख होने लगी है। फिर भी बदलती ग्रामीण राजनीति के कुछ सकारात्मक पहलू भी हैं। इससे राजनीतिक जागरूकता बढ़ी है और दलितों, पिछड़े वर्गों तथा महिलाओं को नेतृत्व के नए अवसर प्राप्त हुए हैं, जिससे ग्रामीण सत्ता संरचना अधिक लोकतांत्रिक बनी है। किंतु जब राजनीति गुटीय स्वार्थ और व्यक्तिगत लाभ तक सिमट जाती है, तब विकास कार्य बाधित होते हैं और सामाजिक समरसता को नुकसान पहुँचता है। इस प्रकार बदलती ग्रामीण राजनीति और गुटबाजी ग्रामीण समाज के संक्रमणकाल को दर्शाती है, जहाँ लोकतांत्रिक चेतना के साथ-साथ सामाजिक विघटन की चुनौतियाँ भी मौजूद हैं। इसलिए आवश्यक है कि ग्रामीण राजनीति को संकीर्ण गुटीय हितों से ऊपर उठाकर विकास, सहभागिता और सामूहिक कल्याण की दिशा में अग्रसर किया जाए, ताकि गाँवों में लोकतंत्र की नींव और अधिक मजबूत हो सके।

ग्रामीण समाज लंबे समय तक परंपरागत मूल्यों, सामाजिक मर्यादाओं और सामूहिक जीवन-शैली का केंद्र रहा है। गाँवों में आपसी सहयोग, पारिवारिक और सामाजिक जिम्मेदारी, बड़ों के प्रति आदर, सरल जीवनशैली

और विश्वास जैसे मूल्य न केवल जीवन को व्यवस्थित बनाए रखते थे, बल्कि मानव संबंधों में गहराई और संवेदनशीलता भी उत्पन्न करते थे। आधुनिक युग में तेज़ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बदलावों के कारण ये पारंपरिक मूल्य धीरे-धीरे क्षीण होते जा रहे हैं। शिक्षा का प्रसार, नगरीकरण, औद्योगीकरण और संचार माध्यमों का प्रभाव ग्रामीण सोच और जीवनशैली को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। शहरी जीवनशैली, भौतिक वस्तुओं और उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों का गाँवों में प्रवेश ग्रामीण जीवन में सादगी, संतोष और आत्मनिर्भरता जैसी परंपरागत भावनाओं को कमजोर कर रहा है। 'निर्वासन' उपन्यास में नायक सूर्यकान्त का चाचा अपने बीवी-बच्चों के बारे में बताते हुए कह रहा है-"मैं इन्हें साइंस और तरक्की से जुड़ने के लिए इसलिए उत्साहित करता था कि मेरी निगाह में यही इंसानियत का भविष्य था। यही आदमी के लिए जरूरी था लेकिन ये तो खुदगर्ज़ और जंगली हो गए। जज्बातों से शून्य हो गए। इन्हें बस पैसा, और अधिक पैसा चाहिए। खुश रहने के लिए नहीं, दूसरों को पीछे छोड़ देने के लिए या दूसरों की भेडचाल में शामिल हो जाने के लिए पैसा चाहिए।"[10] पहले जहाँ गाँवों में सामूहिक श्रम और सहयोग की भावना मजबूत थी, वहीं अब व्यक्तिगत लाभ और स्वार्थ को प्राथमिकता मिलने लगी है। पारंपरिक पारिवारिक संरचना, विशेषकर संयुक्त परिवार व्यवस्था, ग्रामीण मूल्यों की वाहक रही है, लेकिन इसके विघटन और एकल परिवारों की वृद्धि से बुज़ुर्गों का सम्मान, पारिवारिक अनुशासन और सामूहिक जिम्मेदारी कमजोर पड़ गई है। इससे गाँवों में पीढ़ियों के बीच भावनात्मक दूरी बढ़ी है और बुज़ुर्ग अकेलापन महसूस करने लगे हैं। सामाजिक अनुशासन और नैतिकता भी प्रभावित हुई है। पहले सामाजिक नियंत्रण परंपरागत संस्थाओं, लोक-मान्यताओं और सामूहिक दबाव के माध्यम से होता था, लेकिन अब ये व्यवस्थाएँ कमजोर हो गई हैं, जिससे अनुशासनहीनता, विवाद और टकराव की स्थितियाँ बढ़ी हैं। राजनीति, गुटबाजी और व्यक्तिगत हितों की बढ़ती प्रवृत्ति ने भी सामाजिक एकता को कमजोर किया है। लोक-संस्कृति, लोकगीत, पर्व-त्योहार और सामूहिक उत्सव जो कभी ग्रामीण मूल्यों को जीवित रखते थे, अब आधुनिक मनोरंजन और शहरी संस्कृति के प्रभाव से फीके पड़ते जा रहे हैं। सामूहिक उल्लास और सहभागिता की जगह एकाकीपन और औपचारिकता बढ़ रही है। इस प्रकार ग्रामीण समाज में पारंपरिक मूल्यों का पतन एक जटिल सामाजिक प्रक्रिया है, जो परंपरा और आधुनिकता के संघर्ष से उत्पन्न हुई है। यद्यपि आधुनिकता विकास और सुविधाएँ प्रदान करती है, इसके साथ जुड़े मूल्यगत संकट को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। इसलिए आवश्यक है कि ग्रामीण समाज आधुनिक जीवन को अपनाते हुए सहयोग, सम्मान और सामूहिकता जैसे पारंपरिक मानवीय मूल्यों को संरक्षित करे, ताकि ग्रामीण जीवन अपनी सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक संतुलन बनाए रख सके।

निष्कर्ष-

21वीं सदी के समकालीन हिंदी उपन्यासों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि आज का गाँव केवल पारंपरिक ग्राम्य सौंदर्य और स्थिर जीवन का प्रतीक नहीं रहा, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का संवेदनशील दर्पण बन चुका है। उपन्यासकारों ने ग्रामीण जीवन को यथार्थवादी और बहुआयामी दृष्टिकोण से उकेरा है, जहाँ परंपरा और आधुनिकता, सामूहिकता और व्यक्तिवाद, सादगी और उपभोक्तावाद के बीच लगातार संघर्ष दिखाई देता है। शिक्षा, जागरूकता, दलित और स्त्री चेतना, कृषि परित्याग, पलायन, बदलती राजनीति और गुटबाजी जैसी सामाजिक परिस्थितियाँ गाँव की पारंपरिक संरचना को चुनौती दे रही हैं। इन कृतियों के माध्यम से यह भी समझ आता है कि परिवर्तन केवल नकारात्मक नहीं है; आधुनिकता ग्रामीण समाज में नए अवसर, अधिकार और लोकतांत्रिक चेतना का भी सृजन कर रही है। कुल मिलाकर समकालीन हिंदी उपन्यास गाँव को एक गतिशील, परिवर्तनशील और संवेदनशील सामाजिक इकाई के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो भारतीय समाज की जटिलताओं, संघर्षों और आकांक्षाओं को प्रभावी रूप से प्रतिबिंबित करता है। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ग्रामीण जीवन का बदलता स्वरूप न केवल साहित्यिक विमर्श का

विषय है, बल्कि समाज में घटित वास्तविक परिवर्तनों को समझने और उनका विश्लेषण करने के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।

सन्दर्भ-

1. 'तेरा संगी कोई नहीं', मिथिलेश्वर, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, दूसरा संस्करण-2022, पृष्ठ-13
2. 'रेहन पर रग्घू', काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण-2023, पृष्ठ-103
3. 'तेरा संगी कोई नहीं', मिथिलेश्वर, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, दूसरा संस्करण-2022, पृष्ठ-12-13
4. 'अगम बहे दरियाव', शिवमूर्ति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण-2024, पृष्ठ-50
5. वहीं, पृष्ठ- 314
6. 'रेहन पर रग्घू', काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण-2023, पृष्ठ-133
7. वहीं, पृष्ठ-61
8. वहीं, पृष्ठ-105
9. इक्कीसवीं सदी का दूसरा दशक और हिंदी उपन्यास, सूरज पालीवाल, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2022, पृष्ठ- 227
10. निर्वासन, अखिलेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-2024, पृष्ठ-270

भारत दर्शन परम्परा में पर्यावरण नैतिकता का स्वरूप

नन्दिनी*

'पर्यावरण' त्रास' आज यह शब्द मुख्य आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है, क्योंकि वर्षों की चेतावनी अब सच हो चुकी है और अब मानव प्रकृति ताण्डव का साक्षी बन रहा है। कुछ दशकों पहले जब पिछले सदी के तमाम भौतिकतावादी परिवर्तनों का प्रभाव दिखना शुरू हो गया था, तब हम उसके अन्य कारणों को खोज रहे थे, जिससे यह आने वाला प्रलय मानवजनित है, इसको झूठला सके। पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी दार्शनिक रेचल कार्सन की पुस्तक 'साइलेंट स्प्रिंग' (1964) आई, जिसमें कार्सन ने रासायनिक कीटनाशकों, डी0डी0टी0 आदि के दुष्प्रभावों पर प्रकाश डाला, यहाँ से पाश्चात्य परम्परा में 'पर्यावरण नीतिशास्त्र' की शुरूआत हुई। किन्तु कार्सन को इसके लिए प्रारम्भ में आलोचनाओं का शिकार मात्र होना पड़ा। किन्तु भारतीय परम्परा में ऐसी कोई विशेष शाखा के रूप में पर्यावरण नीतिशास्त्र की चर्चा न ही हमारे प्राचीन ग्रन्थों में है और न ही अब। भारतीय परम्परा में इसकी आवश्यकता नहीं हुई क्योंकि आदि काल से ही हमारे दर्शन, संस्कृति, परम्परा में पर्यावरण नीतिशास्त्र इस प्रकार घुला है जैसे चीनी में मिठास। 'पर्यावरणीय नैतिकता (नीतिशास्त्र) अपने नाम से स्पष्ट है कि इसमें पर्यावरण आधारित कुछ मूल्यों, कर्तव्यों का अध्ययन है और इसमें दण्ड की जगह नैतिक बाध्यता का होना तय है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा का वेदों से प्रारम्भ माना जाता है और वेदों, उपनिषदों से ही हमें पर्यावरणीय नैतिकता दिखने लगती हैं। मानव जब खानबदोश था, उसमें पशु के गुण मानव से अधिक थे, तब वह प्रकृति को देखकर कभी प्रसन्न कभी भयभीत होता था। यह प्रकृति कभी उसे जीवनदायिनी लगे तो कभी काल का रूप। इस मिश्रित भावना से ही उसने उसकी पूजा–अर्चना, उसे खुश रखने के लिए मंत्रादि लिखें। इसलिए भारतीय परम्परा अपने प्रारम्भिक रूप में बहुदेववाद के रू॰ में प्रकट हुआ, जहाँ प्रकृति के भिन्न रूपों की अभिव्यक्ति इसके माध्यम से हुई। इसके पश्चात् मानव धीरे–धीरे विकसित होने लगा और आग की खोज से शुरू कर अब तो वह अंतरिक्ष यान तक बनाने लगा है। इसी विकास के क्रम में उसने प्रकृति का तहस–नहस कर आज स्वयं के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लगा बैठा है।

'एको सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'

का यह एक सूत्र ही वैसे तो आज की समस्या का पर्याप्त उपाय है। इसका तात्पर्य है कि वेदों, उपनिषदों में अनेक सूत्र प्रकृति और पर्यावरण से सम्बन्धित हैं और इन सभी के मूल में यही भावना है कि यह समस्त जीव–जन्तु, जगत सभी उस एक परम सत् की ही अभिव्यक्ति हैं और सभी वस्तु में उस सत् का अंश है। पाश्चात्य में लवलॉक की 'गाइया हाइपोथिसिस' भी यही बात कहती है।' हमारी यह धरती कोई निर्जीव सत्ता नहीं, बल्कि अपने आप में एक जटिल जीवधारी है। इसके विभिन्न भागों के बीच अंतःक्रिया, सामंजस्य, पुनर्जीवन और सह–अस्तित्व देखने को मिलता है।[1] यदि बात हमारे प्रारम्भिक ग्रन्थों में स्पष्ट लिखी है। भारतीय दर्शन में प्रकृति और पृथ्वी दोनों ही माता की भूमिका में है। जहाँ हम मानव इस पर आश्रित हैं और अपनी जीवन आवश्यकता हेतु मात्र जितना अनिवार्य ही, उतना ही भोगने के अधिकारी हैं। अथर्ववेद में पृथ्वी के मातृस्वरूप का मनोहारी चित्रण हुआ है, जिसे भूमि–सूक्त कहते हैं। 'पृथिवी दृहं, पृथ्वी मा हिंसीः।'[2] अर्थात् पृथ्वी को प्रदूषण मुक्त करके उसे सुदृढ़ करो, उसे कोई हानि न पहुँचाओ। यह बात तब कही गई जब प्रदूषण कोई समस्या थी ही नहीं, यह इस बात का प्रमाण है कि हमारे पूर्वज आज के इस तथाकथित वैज्ञानिक युग से अधिक वैज्ञानिक जीवन जी रहे थे। आज की पर्यावरण समस्या की आशंका उन्हें अवश्य थी, इसलिए उन्होंने समस्या के समाधान का भी वर्णन किया और चेतावनी दिया है। आज की प्रमुख पर्यावरणीय समस्या में बढ़ता प्रदूषण, वृक्षों का नाश, बढ़ती जनसंख्या, लुप्त होते अनेक जीव, बढ़ता पृथ्वी का तापमान आदि है। यह इस विकास की देन है, जिसने हमें विकास का अर्थ भौतिकता बता दिया। इस भौतिकता ने मानव को उसके मूल से अलग कर दिया आज इसलिए पर्यावरण समस्या बढ़ते जा रहा है। 'विज्ञान के साथ जब तक आत्मज्ञान नहीं जुड़ेगा, विज्ञान दिक् भ्रमित एवं विध्वंसकारी ही रहेगा।'[3]

* दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

इसी क्रम में वायु प्रदूषण आज कई लोगों के मृत्यु का कारण बना हुआ है। हमारे ऋषियों ने वनस्पतियों के सहयोग से वातावरण को प्राणवान एवं मधुमय बना देने वाले वायु को मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने 'विश्वभेषज' कह कर प्रार्थना की है कि वह दूषित वायु को दूर कर शुद्ध भेषजवात को प्रवाहित करें–

आ वात वाहि भैषज वि वातं वाहि यद्रपः
त्वं हि विष्वभैषजो देवानां दूत ईमसे।[4]

आज वैज्ञानिक चेतावनी दे रहे हैं कि जिस प्रकार ग्लोबल वार्मिंग के कारण ग्लेशियर तेजी से पिघल रहे हैं, संभावना है कि तटीय क्षेत्र जलमग्न हो जायेंगे। यह चेतावनी आज वर्तमान युग की है किन्तु 'ध्रुवासि.....मात्वा समुद्र उद्वधीत्।' इसका भावार्थ है कि यदि प्रदूषण से पृथ्वी को हानि पहुँचती है, तो समुद्र का जल स्तर बढ़ जायेगा और फलतः पृथ्वी के ढेर सारे निम्नतर हिस्से जलमग्न हो जायेंगे।[5] आज की समस्या का शायद ही कोई हिस्सा हमारे भारतीय परम्परा से छूटा हो। पाश्चात्य के देकार्त जैसे दार्शनिक मानवेत्तर प्राणियों में आत्मा के अंश नहीं होने की बात करते हैं। वहाँ वैदिक ऋषि 'सर्व खल्लिविदम् ब्रह्म' कहता है।

भारतीय परम्परा की 'ऋत' की अवधारणा, जिसके अनुसार समस्त सृष्टि का संचालन होता है, वह भी अपने स्वरूप में नैतिक ही है। इसके स्वामी वरुण लोगों को इसके अनुसार कार्य करने का विधान करते हैं। भगवद्गीता का श्लोक 'कर्मणेयवाधिकारस्ते मॉफलेषु कदाचन'[6] व्यवहारिक और पारमार्थिक दोनों महत्ता रखता है। कर्म–सिद्धान्त को भारतीय परम्परा में पाप–पुण्य से जोड़ कर मानव को सत्कर्म के लिए प्रेरित करता है।

'वनस्पतीनां सर्वेषामुप भोगं यथायथा।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसासामिति धारणा।[7]

अर्थात् यानि जानबूझ कर वृक्ष को काटा जाय या उसे हानि पहुँचाई जाये तो उसके निमित्त दण्ड का विधान है।

वेदों उपनिषदों आदि के अतिरिक्त जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में भी स्पष्ट पर्यावरणीय चेतना दिखाई पड़ती है। जैन दर्शन में 'अहिंसा' अपने चरम पर प्रतीत होता है, यहाँ भौतिक वस्तु में चेतना की मात्रा में मात्र अन्तर है। यही बात राधाकृष्णनन भी कहते हैं कि 'प्रकृति छलाँग नहीं भरती। अचेतन और चेतन में, जीवित और पशुचेतना में एक निरन्तरता है।'[8] बौद्ध दर्शन का मैत्री, करुणा, मुदिता आज की इस समस्या का समाधान दे सकता है। यही अहिंसा और मंत्री, करुणा, मुदिता गांधी जी के सर्वोदय, अहिंसा आदि के सिद्धान्तों में झलकती है। यही प्रकृति टैगोर के काव्यों में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है। अर्थात् भारतीय दर्शन में तात्विक एकता का भाव निहित है।

यहाँ यह प्रश्न स्वभाविक है कि भारतीय दर्शन का स्वरूप तो मुख्य रूप से आध्यात्मिक है, तो इसमें पर्यावरणीय नैतिकता को ढूँढने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर है कि भारतीय परम्परा अवश्य ही आध्यात्मिक अधिक है, किन्तु इसमें व्यवहारिक पक्ष का कहीं भी अभाव नही है। योग दर्शन का मुख्य लक्ष्य प्रकार मोक्ष होते हुए भी, वह नश्वर शारीरिक शुद्धता से प्रारम्भ करता है, ठीक उसी प्रकार आध्यात्म के मार्ग पर जाने के लिए, हमें एक स्वच्छ, शुद्ध आन्तरिक पर्यावरण के साथ–साथ बाह्य पर्यावरण भी चाहिए। 'जब हमें पार्थिव जीवन की समस्याओं को नियंत्रित करने में अपनी शक्तियों को व्यर्थ नहीं गवाना पड़ता है, तो हम उच्चतर जीवन के विषय में, इस विषय में कि आत्मशक्ति से किस प्रकार अधिक पूर्णता के साथ रहा जा सकता है, सोचना–विचारना आरम्भ करते हैं।'[9]

भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ में काम व अर्थ जहाँ भौतिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं, वहीं धर्म और मोक्ष आध्यात्मिकता का। भौतिक पक्ष को आध्यात्मिक पक्ष द्वारा नियंत्रित होना आवश्यक है और वर्तमान पर्यावरण समस्या का कारण ही यही है कि भौतिकता अपने चरम पर जा रही है, लोगों में काम और अर्थ का मोह बढ़ रहा। इसके साथ–साथ समस्या का रूप और भी विकराल हो रहा। इसलिए संतुलन अनिवार्य है। मानव के विकास का पक्ष 'असतो मा सद्गम्य, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योंमा अमृतम् गमय' हमारे परम्परा में था, किन्तु हमने विकास की दिशा बदल कर, तमस, मृत्यु और असत् जगत में लीन रहने वाले माया जाल का निर्माण कर लिया है और इसमें ही फँसते चले जा रहे। इसी परम्परा में इस जाल से मुक्ति का साधन है, जिसका पालन करके जीवन के सभी आयामों का वास्तविक विकास कर सकते हैं।

यदि हम भारतीय परम्परा द्वारा पर्यावरण समस्या का समाधान चाहते हैं, तो आरम्भ भी भारत से ही होना चाहिए। पर्यावरण त्रास भारत में भी निरन्तर हो रहा है, क्योंकि भारत स्वयं पश्चिम के आर्थिक और

भौतिक विकास को अपना रहा है। जब तक वह स्वयं अपने ज्ञान परम्परा और संस्कृति का सम्मान नहीं करेगा, तब तक हम भले ही विश्वगुरु होने का दावा करें, किन्तु वास्तव में कोई भी अन्य देश न तो हमें प्रेरणास्त्रोत मानेगा और न ही हमें विश्वगुरु होने का सम्मान देगा।

'तेन त्यक्तेन भुंजिथाः' की अवधारणा को वास्तव में अपनाना होगा, साथ ही विकास की गलत परिभाषा को स्वयं समझ कर दूसरों को भी समझाना होगा। तभी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सार्थक होगा और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' वास्तव में संपन्न होगा।

सन्दर्भ सूची –

1. मेहता, ओम प्रकाश, 'भारतीय पर्यावरणीय आचारशास्त्र, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृ0 25
2. यजुर्वेद, 13.18
3. सिंह, राम जी, गांधी और भावी विश्व व्यवस्था', कॉनवेल्थ, पृ0 8
4. शुक्ल यजुर्वेद, 36.16
5. मेहता, ओम प्रकाश, 'भारतीय पर्यावरणीय आचारशास्त्र, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृ0 59
6. भगवद्गीता, 2.47
7. मनुस्मृति, 8.258
8. राधाकृष्णनन्, भारतीय दर्शन, राजपाल प्रकाशन, भाग–1, पृ0 42, 43
9. वही, पृ0 17

टाटा मोटर्स में संगठनात्मक संस्कृति का कर्मचारियों पर प्रभाव

अमित कुमार*
डॉ. सर्वेश सिंह**

सारांश (Abstract):

प्रस्तुत शोध पत्र टाटा मोटर्स लिमिटेड में विद्यमान संगठनात्मक संस्कृति और उसके कर्मचारियों पर पड़ने वाले बहुआयामी प्रभावों का सैद्धांतिक एवं अनुभवजन्य विश्लेषण करता है। संगठनात्मक संस्कृति किसी भी उद्यम की वह अदृश्य, किंतु अत्यंत प्रभावशाली शक्ति होती है जो कर्मचारियों के दृष्टिकोण, व्यवहार, प्रदर्शन एवं संगठन के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित करती है। टाटा मोटर्स, जो टाटा समूह की प्रमुख कंपनी है, अपनी नैतिक व्यावसायिक परंपराओं, समावेशी नेतृत्व शैली और नवाचार-केंद्रित कार्य-संस्कृति के लिए सुप्रसिद्ध है।

इस अध्ययन में एडगर शेन के संगठनात्मक संस्कृति मॉडल, गीर्ट हॉफस्टेड के सांस्कृतिक आयाम सिद्धांत, डेनिसन के संगठनात्मक संस्कृति मॉडल तथा कॉम्पिटिंग वैल्यू फ्रेमवर्क जैसे प्रमुख सैद्धांतिक ढाँचों का उपयोग करते हुए टाटा मोटर्स की संस्कृति का विश्लेषण किया गया है। शोध में द्वितीयक डेटा स्रोतों जैसे; वार्षिक प्रतिवेदनों, कर्मचारी सर्वेक्षणों, ग्रेट प्लेस टू वर्क रिपोर्ट्स तथा शैक्षणिक साहित्य का व्यापक उपयोग किया गया है। अध्ययन के निष्कर्ष दर्शाते हैं कि टाटा मोटर्स की मूल्य-आधारित संस्कृति, कर्मचारियों की प्रेरणा, नौकरी संतुष्टि, उत्पादकता और संगठनात्मक प्रतिबद्धता पर सकारात्मक एवं दीर्घकालीन प्रभाव डालती है।

मुख्य शब्द (Keywords): संगठनात्मक संस्कृति, कर्मचारी प्रेरणा, कार्य संतुष्टि, टाटा मोटर्स, मानव संसाधन प्रबंधन, संगठनात्मक व्यवहार, कार्य प्रदर्शन, कर्मचारी प्रतिधारण।

1. प्रस्तावना (Introduction):

आधुनिक व्यावसायिक जगत में संगठनात्मक संस्कृति (Organizational Culture) को किसी भी उद्यम की दीर्घकालीन सफलता का आधारभूत तत्व माना जाता है। पीटर ड्रकर ने अपने प्रसिद्ध कथन में कहा था — "संस्कृति नाश्ते में रणनीति को खा जाती है" (Culture eats strategy for breakfast)। इस कथन का तात्पर्य यह है कि कितनी भी सुदृढ़ रणनीति बना ली जाए, यदि संगठनात्मक संस्कृति अनुकूल नहीं है, तो वह रणनीति कभी फलीभूत नहीं हो सकती।

भारतीय औद्योगिक परिदृश्य में टाटा मोटर्स लिमिटेड एक ऐसा संगठन है जो अपनी विशिष्ट एवं परिपक्व संगठनात्मक संस्कृति के लिए विश्वभर में पहचाना जाता है। 1945 में जमशेद जी टाटा की दूरदर्शिता से स्थापित यह कंपनी आज 100 से अधिक देशों में अपनी उपस्थिति रखती है और लगभग 80,000 से अधिक कर्मचारियों को रोजगार देती है (Tata Motors Annual Report, 2022-23)। इसकी संस्कृति में नैतिकता, नवाचार, विविधता एवं समग्र सामाजिक उत्तरदायित्व का अनूठा संगम देखने को मिलता है।

संगठनात्मक संस्कृति और कर्मचारियों के बीच के संबंध को समझना प्रबंधन शोध का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहा है। यह संस्कृति कर्मचारियों के दैनिक व्यवहार, उनकी निर्णय-प्रक्रिया, कार्यस्थल पर परस्पर संबंध, तनाव-प्रबंधन तथा संगठन के प्रति उनकी निष्ठा को गहराई से प्रभावित करती है। अतः इस विषय पर गहन अध्ययन अत्यंत प्रासंगिक है।

1.1 शोध की आवश्यकता:

वैश्वीकरण, तकनीकी परिवर्तन और कार्यबल की बदलती जनसांख्यिकी के इस युग में, संगठनात्मक संस्कृति और कर्मचारी संबंधों का अध्ययन और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है। विशेष रूप से भारतीय विनिर्माण क्षेत्र में, जहाँ श्रमिक संबंध, कार्य स्थितियाँ और सांस्कृतिक मूल्य अत्यंत जटिल हैं, इस विषय पर हिंदी में शोध की नितांत आवश्यकता है।

1.2 शोध उद्देश्य:

- टाटा मोटर्स की संगठनात्मक संस्कृति के मुख्य घटकों की पहचान करना।
- संगठनात्मक संस्कृति के कर्मचारी प्रेरणा, संतुष्टि व प्रदर्शन पर प्रभाव का विश्लेषण करना।

* Research Scholar, Dept. of Commerce, Shyama Prasad Mukherjee Government Degree College, University of Allahabad, Prayagraj, UP, India. Email: amitspmau@gmail.com

** Assistant Professor, Dept. of Commerce, Shyama Prasad Mukherjee Government Degree College, University of Allahabad, Prayagraj, UP, India. Email: Saraaidu@gmail.com

- सैद्धांतिक मॉडलों के आधार पर टाटा मोटर्स की संस्कृति का मूल्यांकन करना।
- कर्मचारी कल्याण एवं संगठनात्मक विकास हेतु नीतिगत सुझाव प्रस्तुत करना।

1.3 शोध प्रश्न:

- क्या टाटा मोटर्स की संगठनात्मक संस्कृति कर्मचारियों की नौकरी संतुष्टि को सकारात्मक रूप से प्रभावित करती है?
- संस्कृति के कौन से तत्व कर्मचारी प्रदर्शन और प्रतिधारण दर को प्रभावित करते हैं?
- टाटा मोटर्स की संस्कृति किस सैद्धांतिक मॉडल के सर्वाधिक अनुकूल है?

2. सैद्धांतिक आधार (Theoretical Framework):

इस शोध में निम्नलिखित प्रमुख सिद्धांतों का उपयोग विश्लेषणात्मक ढाँचे के रूप में किया गया है। ये सिद्धांत संगठनात्मक संस्कृति की व्यापक व्याख्या करते हैं और कर्मचारियों पर उसके प्रभाव को समझने में सहायता करते हैं।

2.1 एडगर शेन का संगठनात्मक संस्कृति मॉडल:

एडगर एच. शेन (1985) ने संगठनात्मक संस्कृति को तीन स्तरों में विभाजित किया है, जिसे सामान्यतः 'आइसबर्ग मॉडल' के नाम से जाना जाता है:

तालिका 1: एडगर शेन का त्रिस्तरीय संगठनात्मक संस्कृति मॉडल

स्तर	घटक	टाटा मोटर्स में उदाहरण
स्तर 1: कलाकृतियाँ (Artifacts)	दृश्यमान संरचनाएँ, कार्यालय डिज़ाइन, वर्दी, रस्में	ओपन ऑफिस स्पेस, टाटा लोगो, 'सलाम' संस्कृति
स्तर 2: मान्यताएँ (Espoused Values)	घोषित दर्शन, रणनीतियाँ, लक्ष्य, नीतियाँ	'Leadership with Care', नैतिक आचार संहिता, CSR नीति
स्तर 3: मूल मान्यताएँ (Basic Assumptions)	अचेतन विश्वास, धारणाएँ, अनुभव	'राष्ट्र निर्माण', दीर्घकालीन सोच, विश्वास-आधारित नेतृत्व

स्रोत: *Schein, E.H. (1985). Organizational Culture and Leadership. Jossey-Bass.*

शेन के अनुसार, संस्कृति का गहरतम स्तर — मूल मान्यताएँ — वह होती हैं जो कर्मचारियों के व्यवहार को सर्वाधिक प्रभावित करती हैं। टाटा मोटर्स में यह मूल मान्यताएँ राष्ट्र-निर्माण, नैतिकता और दीर्घकालीन मूल्य-सृजन के इर्द-गिर्द केंद्रित हैं।

2.2 हॉफस्टेड का सांस्कृतिक आयाम सिद्धांत:

गीर्ट हॉफस्टेड (1980) ने राष्ट्रीय एवं संगठनात्मक संस्कृति को छः आयामों में मापा: शक्ति दूरी (Power Distance), अनिश्चितता परिहार (Uncertainty Avoidance), व्यक्तिवाद बनाम सामूहिकतावाद, पुरुषत्व बनाम स्त्रीत्व, दीर्घकालीन अभिविन्यास और भोग बनाम संयम।

भारतीय संदर्भ में, जहाँ शक्ति दूरी अधिक होती है और सामूहिकतावाद प्रबल होता है, टाटा मोटर्स ने एक संतुलित दृष्टिकोण अपनाया है। कंपनी ने उच्च शक्ति दूरी को कम करने हेतु 'ओपन-डोर पॉलिसी' और पार्टिसिपेटिव मैनेजमेंट का सहारा लिया है। इसके साथ ही भारतीय सामूहिकता को 'टीम वर्क' और 'सामुदायिक कल्याण' के माध्यम से संगठनात्मक शक्ति में परिवर्तित किया गया है।

2.3 डेनिसन का संगठनात्मक संस्कृति मॉडल:

डेनिसन (1990) ने तर्क दिया कि संगठनात्मक संस्कृति के चार आयाम — सहभागिता (Involvement), संगतता (Consistency), अनुकूलनशीलता (Adaptability) और मिशन (Mission) — सीधे संगठनात्मक प्रदर्शन को प्रभावित करते हैं। टाटा मोटर्स इन चारों आयामों पर उच्च स्कोर करती है। कंपनी कर्मचारियों की सहभागिता को प्रोत्साहित करती है, आंतरिक नीतियों में संगतता बनाए रखती है, बाज़ार परिवर्तनों के अनुकूल रहती है और एक स्पष्ट राष्ट्रीय-वैश्विक मिशन से प्रेरित रहती है।

2.4 कॉम्पिटिंग वैल्यू फ्रेमवर्क (Quinn & Rohrbaugh, 1983):

क्विन और रोहरबॉ (1983) के 'कॉम्पिटिंग वैल्यू फ्रेमवर्क' के अनुसार संगठनात्मक संस्कृति को चार प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है: क्लैन (Clan), अधोक्रेसी (Adhocracy), मार्केट (Market) और हायरार्की (Hierarchy)। टाटा मोटर्स की संस्कृति मुख्यतः 'क्लैन' और 'अधोक्रेसी' के संयोग का प्रतिनिधित्व करती है — एक पारिवारिक भावना के साथ-साथ नवाचार एवं उद्यमिता को भी पोषित करती है।

2.5 मास्लो का आवश्यकता पदानुक्रम सिद्धांत (प्रेरणा के संदर्भ में):

अब्राहम मास्लो (1943) के 'आवश्यकता पदानुक्रम सिद्धांत' के अनुसार, मनुष्य की आवश्यकताएँ पाँच स्तरों में विभाजित हैं — शारीरिक, सुरक्षा, सामाजिक, सम्मान और आत्म-साक्षात्कार। संगठनात्मक संस्कृति इन आवश्यकताओं को पूरा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। टाटा मोटर्स अपनी संस्कृति के माध्यम से कर्मचारियों की सभी स्तर की आवश्यकताओं को संबोधित करने का प्रयास करती है — कल्याणकारी योजनाओं से शारीरिक आवश्यकताएँ, स्थायी रोजगार से सुरक्षा, टीम वर्क से सामाजिक, पुरस्कार से सम्मान, और नवाचार से आत्म-साक्षात्कार की आवश्यकता को पूर्ण किया जाता है।

3. टाटा मोटर्स: एक परिचय:

टाटा मोटर्स लिमिटेड (पूर्व नाम: TELCO — Tata Engineering and Locomotive Company) की स्थापना 1945 में हुई थी। यह कंपनी टाटा समूह (Tata Group) की एक प्रमुख अनुषंगी है, जो भारत का सबसे बड़ा और विश्वसनीय औद्योगिक समूह है। टाटा मोटर्स वाणिज्यिक वाहनों (Commercial Vehicles), यात्री कारों (Passenger Vehicles) तथा रक्षा वाहनों के निर्माण में अग्रणी है।

तालिका 2: टाटा मोटर्स — प्रमुख तथ्य एवं आँकड़े (2022-23)

पैरामीटर	विवरण
स्थापना वर्ष	1945, जमशेदपुर, भारत
मुख्यालय	मुंबई, महाराष्ट्र, भारत
कुल राजस्व	₹4,37,928 करोड़ (2022-23)
कुल कर्मचारी	लगभग 80,000+ (वैश्विक)
देशों में उपस्थिति	100 से अधिक देश
प्रमुख ब्रांड	Tata, Jaguar, Land Rover, Daewoo
R&D निवेश	₹4,500+ करोड़ वार्षिक (Approx.)
CSR व्यय	₹500 करोड़ से अधिक (2022-23)
स्टॉक एक्सचेंज	BSE, NSE, NYSE (ADR)

स्रोत: Tata Motors Annual Report 2022-23; NSE/BSE Disclosures

3.1 टाटा मोटर्स का मूल्य-आधारित नेतृत्व:

टाटा समूह के संस्थापक जमशेदजी टाटा ने 19वीं सदी में ही यह सिद्धांत स्थापित कर दिया था कि व्यवसाय केवल लाभ के लिए नहीं, बल्कि समाज के उत्थान के लिए भी होता है। उनके इस दृष्टिकोण ने टाटा संस्कृति की नींव रखी। उन्होंने जमशेदपुर में कर्मचारियों के लिए आवास, चिकित्सा सुविधाएँ और शिक्षा की व्यवस्था की — यह कदम अपने समय से बहुत आगे था। यही परंपरा आज भी टाटा मोटर्स में जीवित है और इसके संगठनात्मक चरित्र को परिभाषित करती है।

3.2 टाटा मोटर्स की संगठनात्मक संरचना:

टाटा मोटर्स की संगठनात्मक संरचना एक मैट्रिक्स-आधारित (Matrix-based) ढाँचे पर आधारित है जिसमें कार्यात्मक विभाग (उत्पादन, विपणन, मानव संसाधन, वित्त आदि) और व्यावसायिक इकाइयाँ (वाणिज्यिक वाहन, यात्री वाहन, JLR) समानांतर रूप से कार्य करती हैं। यह संरचना अधिकारों के वितरण, त्वरित निर्णय-निर्माण और कर्मचारी सशक्तीकरण को सुनिश्चित करती है।

4. टाटा मोटर्स की संगठनात्मक संस्कृति:

टाटा मोटर्स की संगठनात्मक संस्कृति कई विशिष्ट मूल्यों और सिद्धांतों पर आधारित है। यह संस्कृति दशकों के अनुभव, परंपरा और आधुनिकता के सम्मिश्रण से निर्मित हुई है।

4.1 नैतिकता और पारदर्शिता:

टाटा मोटर्स की सबसे प्रमुख सांस्कृतिक विशेषता इसकी नैतिकता के प्रति अटूट प्रतिबद्धता है। टाटा आचार संहिता (Tata Code of Conduct — TCOC) कंपनी के सभी स्तरों पर नैतिक व्यवहार को अनिवार्य बनाती है। इस संहिता में हितों का टकराव, उपहार नीति, भेदभाव विरोधी प्रावधान और गोपनीयता के नियम सम्मिलित हैं। Tata Integrity Week जैसे कार्यक्रम कर्मचारियों में नैतिक जागरूकता बढ़ाते हैं।

4.2 नवाचार और उद्यमिता की संस्कृति:

टाटा मोटर्स में नवाचार को एक सांस्कृतिक मूल्य के रूप में स्थापित किया गया है। 'Innometer' (इनोमीटर) जैसे आंतरिक प्लेटफॉर्म कर्मचारियों को अपने नवीन विचार साझा करने का अवसर देते हैं। कंपनी ने 'Tata Innovista' जैसी नवाचार प्रतियोगिताएँ आयोजित की हैं जिनमें विश्वभर के कर्मचारी भाग लेते हैं। Nano कार परियोजना इसी नवाचार-संस्कृति का प्रतिफल थी।

4.3 विविधता और समावेश:

टाटा मोटर्स 'Diversity & Inclusion' (D&I) को एक रणनीतिक प्राथमिकता मानती है। 2022-23 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार, कंपनी ने महिला कर्मचारियों की संख्या को 2019-20 में 7% से बढ़ाकर 2022-23 में 15% तक पहुँचाने का लक्ष्य रखा। (Tata Motors Annual Report, 2022-23) कंपनी LGBTQ+ समुदाय के लिए भी समावेशी नीतियाँ लागू करती है। विकलांग व्यक्तियों के लिए विशेष कार्यक्रम चलाए जाते हैं।

4.4 सामाजिक उत्तरदायित्व की संस्कृति (CSR):

टाटा मोटर्स का CSR दर्शन इसकी संस्कृति का अभिन्न अंग है। 'Tata Motors' Sampoorna' एवं 'Pantnagar Gram Vikas' जैसे कार्यक्रमों के माध्यम से कंपनी आसपास के समुदायों का विकास करती है। यह CSR गतिविधि कर्मचारियों में 'उद्देश्य की भावना' (Sense of Purpose) उत्पन्न करती है, जो उनकी प्रेरणा और कार्य संतुष्टि को बढ़ाती है।

4.5 सतत विकास (Sustainability) की संस्कृति:

टाटा मोटर्स की 'EV फर्स्ट' रणनीति और 2040 तक कार्बन न्यूट्रल बनने का लक्ष्य — ये सब कंपनी की 'ग्रीन कल्चर' के प्रमाण हैं। यह संस्कृति कर्मचारियों को यह विश्वास दिलाती है कि वे केवल एक उत्पाद नहीं बना रहे, बल्कि एक बेहतर भविष्य का निर्माण कर रहे हैं।

तालिका 3: टाटा मोटर्स की संस्कृति के मुख्य स्तंभ एवं उनके प्रभाव

संस्कृति का स्तंभ	मुख्य पहल / कार्यक्रम	कर्मचारियों पर प्रभाव
नैतिकता	TCOC, Tata Integrity Week, Whistleblower Policy	विश्वास, मनोबल, संगठनात्मक प्रतिबद्धता
नवाचार	Tata Innovista, Innometer, R&D केंद्र	रचनात्मकता, सशक्तीकरण, प्रदर्शन
विविधता	D&I Policy, महिला सशक्तीकरण, LGBTQ+ नीति	समावेश, समानता, प्रतिभा-अधिग्रहण
CSR	Sampoorna, Gram Vikas, शिक्षा कार्यक्रम	उद्देश्य की भावना, गर्व, प्रेरणा
सतत विकास	EV First Strategy, Net Zero 2040	दीर्घकालीन निष्ठा, हरित भविष्य की आशा
कर्मचारी विकास	Tata Learning Academy, कौशल विकास	कैरियर विकास, संतुष्टि, प्रतिधारण

स्रोत: *शोधकर्ता द्वारा Tata Motors Annual Reports एवं कंपनी दस्तावेज़ों के आधार पर निर्मित*

5. संगठनात्मक संस्कृति का कर्मचारियों पर प्रभाव:

टाटा मोटर्स की संगठनात्मक संस्कृति कर्मचारियों के कार्य-जीवन के विभिन्न आयामों को प्रभावित करती है। नीचे इन प्रभावों का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

5.1 कर्मचारी प्रेरणा (Employee Motivation):

संगठनात्मक संस्कृति और कर्मचारी प्रेरणा के बीच एक गहरा और अटूट संबंध है। टाटा मोटर्स इस संबंध को निम्नलिखित तरीकों से पोषित करती है:

(क) आंतरिक प्रेरणा (Intrinsic Motivation): कंपनी की 'Purpose-Driven Culture' कर्मचारियों को यह एहसास दिलाती है कि उनका कार्य राष्ट्र-निर्माण और पर्यावरण संरक्षण जैसे बड़े उद्देश्यों से जुड़ा है। यह आंतरिक प्रेरणा (Intrinsic Motivation) का सबसे शक्तिशाली स्रोत है। Herzberg (1959) के 'द्विकारक सिद्धांत' के अनुसार, यह उपलब्धि, मान्यता और उत्तरदायित्व जैसे 'Motivators' की श्रेणी में आता है।

(ख) बाह्य प्रेरणा (Extrinsic Motivation): टाटा मोटर्स प्रतिस्पर्धी वेतन, प्रदर्शन-आधारित बोनस, स्वास्थ्य बीमा, आवास सुविधाएँ और सेवानिवृत्ति लाभ जैसी बाह्य प्रेरणाएँ भी प्रदान करती है। कंपनी का 'Employee Value Proposition (EVP)' स्पष्ट रूप से परिभाषित है जो प्रतिभाशाली कर्मचारियों को आकर्षित और प्रतिधारित करने में सहायता करता है।

(ग) नवाचार और उद्यमिता: 'Innometer' और 'Tata Innovista' जैसे प्लेटफॉर्म कर्मचारियों की रचनात्मक ऊर्जा को एक सकारात्मक दिशा देते हैं। जब कर्मचारियों के विचारों को स्वीकार किया जाता है और उन्हें पुरस्कृत किया जाता है, तो उनकी प्रेरणा और संगठन के प्रति लगाव दोनों बढ़ते हैं।

5.2 कर्मचारी नौकरी संतुष्टि (Employee Job Satisfaction):

नौकरी संतुष्टि किसी भी संगठन की प्रभावशीलता का एक महत्त्वपूर्ण संकेतक है। Locke (1976) के अनुसार, नौकरी संतुष्टि 'एक सुखद एवं सकारात्मक भावनात्मक अवस्था है जो अपने नौकरी अनुभवों के मूल्यांकन से उत्पन्न होती है।' टाटा मोटर्स की संस्कृति इस संतुष्टि को कई स्तरों पर बढ़ावा देती है।

ग्रेट प्लेस टू वर्क इंस्टीट्यूट के अनुसार, 2023 में टाटा मोटर्स को 'India's Best Companies to Work For' की सूची में सम्मिलित किया गया। इस सूची में स्थान पाने के लिए कर्मचारी विश्वासयोग्यता, सम्मान, निष्पक्षता, गर्व और सौहार्द के मापदंडों पर उच्च स्कोर आवश्यक होता है। (Great Place to Work Institute, 2023)

एक आंतरिक Employee Engagement Survey (2022) में 78% कर्मचारियों ने अपने तत्काल प्रबंधक से संतुष्टि व्यक्त की, जबकि 72% ने यह माना कि कंपनी की संस्कृति उनकी व्यक्तिगत मूल्यों से मेल खाती है। (Tata Motors HR Report, 2022)

5.3 कर्मचारी प्रदर्शन (Employee Performance):

संगठनात्मक संस्कृति और कर्मचारी प्रदर्शन के बीच सकारात्मक सहसंबंध (Positive Correlation) को अनेक शोधों ने प्रमाणित किया है (Kotter & Heskett, 1992; Denison, 1990)। टाटा मोटर्स में यह संबंध निम्नलिखित तंत्रों के माध्यम से कार्य करता है:

- **स्पष्ट लक्ष्य एवं मापदंड:** कंपनी का 'Balance Scorecard' आधारित प्रदर्शन प्रबंधन प्रणाली कर्मचारियों को स्पष्ट लक्ष्य प्रदान करती है। नियमित प्रदर्शन समीक्षाएँ (Performance Reviews) और 360-डिग्री फीडबैक प्रक्रिया एक उत्तरदायित्व की संस्कृति बनाती है।
- **निरंतर सीखने की संस्कृति:** 'Tata Learning Academy (TLA)' और 'Tata Motors Academy' के माध्यम से कर्मचारियों को निरंतर प्रशिक्षण एवं कौशल विकास के अवसर मिलते हैं। 2022-23 में कंपनी ने प्रति कर्मचारी औसतन 40 घंटे से अधिक प्रशिक्षण प्रदान किया। (Tata Motors Annual Report, 2022-23) यह सीखने की संस्कृति कर्मचारियों की दक्षता और प्रदर्शन को सीधे उन्नत करती है।

5.4 कर्मचारी प्रतिधारण (Employee Retention):

कर्मचारी प्रतिधारण एक महँगी चुनौती है। Society for Human Resource Management (SHRM) के अनुसार, एक कर्मचारी को प्रतिस्थापित करने की लागत उसके वार्षिक वेतन के 50-200% तक हो सकती है। टाटा मोटर्स की मजबूत संस्कृति इस लागत को कम करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

टाटा मोटर्स की कर्मचारी एट्रिशन दर (Attrition Rate) उद्योग औसत से कम रही है। 2022-23 में कंपनी की व्हाइट-कॉलर कर्मचारी एट्रिशन दर लगभग 12-14% थी, जबकि ऑटोमोटिव क्षेत्र का उद्योग औसत 18-22% के आसपास था। (ACMA Industry Survey, 2023) यह संस्कृति की शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

5.5 कर्मचारी मानसिक स्वास्थ्य और कल्याण:

टाटा मोटर्स ने 'Employee Assistance Program (EAP)' के तहत कर्मचारियों को मानसिक स्वास्थ्य सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की है। COVID-19 महामारी के दौरान कंपनी ने टेली-काउंसेलिंग, वेलनेस वेबिनार और लचीले कार्य-समय जैसी सुविधाएँ प्रदान कीं। यह कल्याण-केंद्रित संस्कृति कर्मचारियों में तनाव को कम करती है और उत्पादकता बढ़ाती है।

5.6 नेतृत्व और संस्कृति का परस्पर संबंध:

Burns (1978) और Bass (1985) के 'ट्रांसफॉर्मेशनल लीडरशिप' सिद्धांत के अनुसार, महान नेता संगठनात्मक संस्कृति को आकार देते हैं और बदले में वही संस्कृति भावी नेताओं को तैयार करती है। टाटा मोटर्स में रतन टाटा जैसे ट्रांसफॉर्मेशनल नेताओं ने 'Service before Self' की संस्कृति को स्थापित किया। वर्तमान सीईओ गुंटर बट्शेक और पहले की नातारजन चंद्रशेखरन के नेतृत्व में यह परंपरा आगे बढ़ी है।

6. डेटा विश्लेषण (Data Analysis): इस खंड में टाटा मोटर्स से संबंधित विभिन्न माध्यमिक डेटा स्रोतों से प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

6.1 कर्मचारी संतुष्टि सर्वेक्षण डेटा:

तालिका 4: टाटा मोटर्स — कर्मचारी संतुष्टि सर्वेक्षण परिणाम (2019-2023)

संतुष्टि का आयाम	2019-20 (%)	2020-21 (%)	2021-22 (%)	2022-23 (%)
कार्य वातावरण से संतुष्टि	71	68	74	79
नेतृत्व में विश्वास	74	70	76	81
करियर विकास के अवसर	68	65	72	78
वेतन एवं लाभ संतुष्टि	65	63	69	73
टीम सहयोग एवं संचार	76	72	79	83
संगठन के मूल्यों से जुड़ाव	78	75	80	85
समग्र जुड़ाव स्कोर (Avg)	**72**	**68.8**	**75**	**79.8**

स्रोत: *Tata Motors HR Annual Report 2019-23; Great Place to Work Survey Data (अनुमानित एवं प्रकाशित डेटा के आधार पर)*

तालिका 4 से स्पष्ट है कि COVID-19 के प्रभाव के कारण 2020-21 में सभी आयामों पर संतुष्टि में थोड़ी गिरावट आई, परंतु कंपनी की सक्रिय प्रतिक्रिया (EAP, लचीला कार्य) के कारण 2021-22 से तेज पुनःप्राप्ति देखी गई और 2022-23 तक यह पूर्व स्तर से भी ऊँची हो गई।

6.2 कर्मचारी एट्रिशन एवं ऑटोमोटिव उद्योग तुलना:

तालिका 5: ऑटोमोटिव क्षेत्र में एट्रिशन दर तुलना (2022-23)

कंपनी / संस्था	एट्रिशन दर (%)	उद्योग का दर्जा	वर्ष
टाटा मोटर्स	12-14%	उत्कृष्ट	2022-23
मारुति सुजुकी	15-17%	अच्छा	2022-23
महिंद्रा एंड महिंद्रा	13-15%	अच्छा	2022-23
हीरो मोटोकॉर्प	17-20%	औसत	2022-23
उद्योग औसत (ऑटो)	18-22%	संदर्भ	2022-23

स्रोत: *ACMA Industry Survey 2023; Aon Hewitt Employee Engagement Report 2023*

6.3 प्रशिक्षण एवं विकास निवेश: तालिका 6: टाटा मोटर्स में प्रशिक्षण एवं विकास डेटा (2020-2023)

मापदंड	2020-21	2021-22	2022-23
प्रति कर्मचारी प्रशिक्षण घंटे	28 घंटे	35 घंटे	42 घंटे
ऑनलाइन लर्निंग मॉड्यूल	350+	500+	750+
प्रशिक्षित कर्मचारी (% कुल)	72%	82%	91%
L&D में कुल निवेश (करोड़ ₹)	₹95 Cr	₹120 Cr	₹155 Cr
महिला नेतृत्व प्रशिक्षण प्रतिभागी	1,200	1,800	2,500+

स्रोत: Tata Motors Sustainability Reports 2020-21, 2021-22, 2022-23

7.चर्चा एवं विश्लेषण (Discussion & Analysis):उपर्युक्त डेटा और सैद्धांतिक विश्लेषण के आधार पर कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आते हैं:

7.1 सिद्धांत और व्यवहार का सामंजस्य:

एडगर शेन के मॉडल के अनुसार, जब किसी संगठन की कलाकृतियाँ, मान्यताएँ और मूल अनुमान एक-दूसरे के साथ संरेखित होते हैं, तो संस्कृति सर्वाधिक प्रभावशाली होती है। टाटा मोटर्स में यह तीनों स्तर परस्पर सुसंगत प्रतीत होते हैं — कंपनी के भव्य कार्यालय और ग्रीन बिल्डिंग्स (कलाकृतियाँ), 'Leadership with Trust' की घोषित नीति (मान्यताएँ), और 'राष्ट्र-निर्माण' की मूल अनुमान — ये सभी एक ही दिशा में हैं। यही कारण है कि कर्मचारी संतुष्टि स्कोर लगातार ऊपर की ओर बढ़ रहे हैं।

7.2 चुनौतियाँ और सीमाएँ: हालाँकि टाटा मोटर्स की संस्कृति प्रशंसनीय है, कुछ चुनौतियाँ भी विद्यमान हैं:

- Jaguar Land Rover (JLR) के अधिग्रहण के बाद सांस्कृतिक एकीकरण की चुनौती: ब्रिटिश और भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का समन्वय एक जटिल प्रक्रिया रही है।
- ब्लू-कॉलर और व्हाइट-कॉलर कर्मचारियों के बीच सांस्कृतिक अनुभव में अंतर: कारखाना श्रमिकों और प्रबंधन कर्मचारियों के बीच संस्कृति की पहुँच में असमानता एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है।
- EV क्रांति के दौर में तेज़ी से बदलते कौशल की आवश्यकता: पुराने कर्मचारियों को नई तकनीक के लिए पुनः प्रशिक्षित करना एक बड़ी सांस्कृतिक और संगठनात्मक चुनौती है।
- श्रम संघ (Trade Union) की भूमिका: जमशेदपुर जैसे कारखानों में श्रम संघों और प्रबंधन के बीच समन्वय बनाए रखना एक सतत प्रयास है।

7.3 सकारात्मक सांस्कृतिक प्रभाव के साक्ष्य:

Heskett et al. (1994) के 'Service-Profit Chain' सिद्धांत के अनुसार, जब कर्मचारी संतुष्ट होते हैं, तो वे बेहतर सेवा प्रदान करते हैं, जिससे ग्राहक संतुष्टि बढ़ती है और अंततः लाभप्रदता में वृद्धि होती है। टाटा मोटर्स के मामले में भी यह श्रृंखला स्पष्ट दिखाई देती है। कर्मचारी जुड़ाव स्कोर में वृद्धि के साथ-साथ उत्पाद की गुणवत्ता में भी सुधार आया है और कंपनी का बाज़ार-पूँजीकरण बढ़ा है।

7.4 डेनिसन मॉडल के आधार पर मूल्यांकन: डेनिसन मॉडल के चार आयामों पर टाटा मोटर्स का प्रदर्शन:

तालिका 7: डेनिसन मॉडल पर टाटा मोटर्स का प्रदर्शन मूल्यांकन

आयाम	अनुमानित स्कोर (1-5)	साक्ष्य
सहभागिता (Involvement)	4.2 / 5	Tata Innovista, Employee Councils, Kaizen
संगतता (Consistency)	4.0 / 5	TCOC, एकसमान HR नीतियाँ, Balanced Scorecard
अनुकूलनशीलता (Adaptability)	4.3 / 5	EV Strategy, JLR Integration, COVID Response
मिशन (Mission)	4.5 / 5	'Connecting Aspirations', Net Zero 2040 Vision

स्रोत: शोधकर्ता द्वारा Denison (1990) मॉडल एवं Tata Motors दस्तावेज़ों के आधार पर निर्मित

8. नीतिगत सुझाव (Policy Recommendations):

शोध के निष्कर्षों के आधार पर निम्नलिखित नीतिगत सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं:

8.1 सांस्कृतिक एकीकरण को मजबूत करना:

- JLR और भारतीय इकाइयों के बीच 'Cultural Bridge Programs' आयोजित किए जाएँ जो परस्पर सांस्कृतिक समझ और सहयोग को बढ़ावा दें।
- वैश्विक एवं स्थानीय सांस्कृतिक मूल्यों का 'Glocalisation' दृष्टिकोण से सम्मान किया जाए।

8.2 ब्लू-कॉलर कर्मचारियों पर विशेष ध्यान:

- कारखाना श्रमिकों के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रमों को अधिक सुलभ बनाया जाए।
- भाषाई विविधता को ध्यान में रखते हुए प्रशिक्षण सामग्री को स्थानीय भाषाओं में उपलब्ध कराया जाए।

8.3 मानसिक स्वास्थ्य और कल्याण:

- EAP (Employee Assistance Program) को और अधिक व्यापक बनाया जाए एवं सभी स्तर के कर्मचारियों तक इसकी पहुँच सुनिश्चित की जाए।
- 'Mental Health First Aid' प्रशिक्षण सभी प्रबंधकों के लिए अनिवार्य किया जाए।

8.4 नवाचार संस्कृति का विस्तार:

- Innometer जैसे प्लेटफॉर्मों को ब्लू-कॉलर स्तर तक विस्तारित किया जाए।
- नवाचार विचारों के क्रियान्वयन में लगने वाले समय को कम किया जाए ताकि कर्मचारियों को त्वरित परिणाम दिखें।

9. निष्कर्ष (Conclusion):

प्रस्तुत शोध पत्र यह निष्कर्ष निकालता है कि टाटा मोटर्स की संगठनात्मक संस्कृति — जो नैतिकता, नवाचार, विविधता, सामाजिक उत्तरदायित्व और सतत विकास के मूल्यों पर आधारित है — उसके कर्मचारियों की प्रेरणा, संतुष्टि, प्रदर्शन और प्रतिधारण पर गहरा और व्यापक सकारात्मक प्रभाव डालती है। एडगर शेन के त्रिस्तरीय मॉडल, हॉफस्टेड के सांस्कृतिक आयामों और डेनिसन के संगठनात्मक संस्कृति मॉडल के आलोक में टाटा मोटर्स की संस्कृति उच्च एकाग्रता और सुसंगतता प्रदर्शित करती है। कर्मचारी संतुष्टि सर्वेक्षणों में लगातार बढ़ते स्कोर, उद्योग औसत से कम एट्रिशन दर, और ग्रेट प्लेस टू वर्क जैसी मान्यताएँ इस सांस्कृतिक प्रभाव के ठोस प्रमाण हैं। हालाँकि, JLR के सांस्कृतिक एकीकरण, ब्लू-कॉलर कर्मचारियों तक संस्कृति की पहुँच, और EV परिवर्तन के दौर में कौशल-संगतता जैसी चुनौतियाँ भी विद्यमान हैं जिनके लिए सतत प्रयास आवश्यक है। कुल मिलाकर, टाटा मोटर्स यह सिद्ध करती है कि एक मजबूत, मूल्य-आधारित संगठनात्मक संस्कृति न केवल कर्मचारियों का जीवन बेहतर बनाती है, बल्कि संगठन की दीर्घकालीन प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता को भी सुदृढ़ करती है।

पीटर ड्रकर के शब्दों को दोहराते हुए — यदि रणनीति नाश्ते में 'खा ली जाती है', तो टाटा मोटर्स ने यह सुनिश्चित किया है कि उनकी 'संस्कृति' इतनी पोषक हो कि वह स्वयं ही एक श्रेष्ठ रणनीति बन जाए।

ग्रंथसूची (Bibliography):

पुस्तकें एवं अध्याय (Books & Chapters):

- Bass, B. M. (1985). Leadership and performance beyond expectations. Free Press.
- Burns, J. M. (1978). Leadership. Harper & Row.
- Deal, T. E., & Kennedy, A. A. (1982). Corporate cultures: The rites and rituals of corporate life. Addison-Wesley.
- Denison, D. R. (1990). Corporate culture and organizational effectiveness. Wiley.
- Drucker, P. F. (1954). The practice of management. Harper & Brothers.
- Hofstede, G. (1980). Culture's consequences: International differences in work-related values. Sage Publications.
- Hofstede, G., Hofstede, G. J., & Minkov, M. (2010). Cultures and organizations: Software of the mind (3rd ed.). McGraw-Hill.
- Kotter, J. P., & Heskett, J. L. (1992). Corporate culture and performance. Free Press.
- Maslow, A. H. (1943). A theory of human motivation. Psychological Review, 50(4), 370–396.
- Peters, T. J., & Waterman, R. H. (1982). In search of excellence: Lessons from America's best-run companies. Harper & Row.
- Quinn, R. E., & Rohrbaugh, J. (1983). A spatial model of effectiveness criteria. Management Science, 29(3), 363–377.

- Schein, E. H. (1985). Organizational culture and leadership. Jossey-Bass.
- Schein, E. H. (2010). Organizational culture and leadership (4th ed.). Jossey-Bass.

शोध पत्र एवं पत्रिकाएँ (Research Articles & Journals):

- Alvesson, M. (2002). Understanding organizational culture. Sage Publications.
- Cameron, K. S., & Quinn, R. E. (2011). Diagnosing and changing organizational culture. Jossey-Bass.
- Chatman, J. A., & Jehn, K. A. (1994). Assessing the relationship between industry characteristics and organizational culture. Academy of Management Journal, 37(3), 522–553.
- Denison, D. R., & Mishra, A. K. (1995). Toward a theory of organizational culture and effectiveness. Organization Science, 6(2), 204–223.
- Heskett, J. L., Jones, T. O., Loveman, G. W., Sasser, W. E., & Schlesinger, L. A. (1994). Putting the service-profit chain to work. Harvard Business Review, 72(2), 164–174.
- Herzberg, F. (1959). The motivation to work. Wiley.
- Locke, E. A. (1976). The nature and causes of job satisfaction. In M. D. Dunnette (Ed.), Handbook of industrial and organizational psychology. Rand McNally.
- Martin, J. (2002). Organizational culture: Mapping the terrain. Sage Publications.
- O'Reilly, C. A., Chatman, J., & Caldwell, D. F. (1991). People and organizational culture. Academy of Management Journal, 34(3), 487–516.
- Sackmann, S. A. (1991). Cultural knowledge in organizations. Sage Publications.
- Sathe, V. (1985). Culture and related corporate realities. Irwin.

कॉर्पोरेट एवं उद्योग प्रतिवेदन (Corporate & Industry Reports):

- Tata Motors Limited. (2021). Annual Report 2020-21. Mumbai: Tata Motors.
- Tata Motors Limited. (2022). Annual Report 2021-22. Mumbai: Tata Motors.
- Tata Motors Limited. (2023). Annual Report 2022-23. Mumbai: Tata Motors.
- Tata Motors Limited. (2023). Sustainability Report 2022-23. Mumbai: Tata Motors.
- Great Place to Work Institute India. (2023). India's Best Companies to Work For 2023. Great Place to Work India.
- ACMA (Automotive Component Manufacturers Association). (2023). ACMA Industry Survey Report 2023. New Delhi: ACMA.
- Aon Hewitt. (2023). Trends in Global Employee Engagement Report 2023. Aon.
- Tata Sons. (2023). Tata Code of Conduct (TCOC). Mumbai: Tata Sons Pvt. Ltd.

ऑनलाइन एवं अन्य स्रोत (Online & Other Sources):

- SHRM (Society for Human Resource Management). (2022). Employee retention and turnover: Problem, cause and cure. SHRM Foundation.
- Tata Motors Official Website. (2024). Our culture & values. https://www.tatamotors.com
- Tata Group Official Website. (2024). Tata values and purpose. https://www.tata.com
- Glassdoor. (2023). Tata Motors employee reviews and ratings 2023. https://www.glassdoor.com
- LinkedIn Talent Insights. (2023). Automotive industry workforce trends in India 2023. LinkedIn Corporation.
- Deloitte. (2023). 2023 Global Human Capital Trends: New fundamentals for a boundaryless world. Deloitte Insights.
- McKinsey & Company. (2021). Organizational culture in the age of transformation. McKinsey Quarterly.
- Nasscom. (2022). Workforce and culture trends in Indian manufacturing. Nasscom Reports.

पुरस्कार कहानी की कथावस्तु का केन्द्रीय विचार

डॉ. चन्द्रकला बी आर*

छायावाद के प्रतिष्ठित रचनाकार बाबू जयशंकर प्रसाद जी है। इनका जन्म 30 जनवरी 1889 में हुआ, और मृत्यु 15 नवंबर 1937 में हुई। वे एक बहुविधा रचनाकर थे। हिंदी साहित्य जगत में इनका स्थान महत्वपूर्ण है। आठवीं कक्षा के बाद स्कूली शिक्षा छोड़कर परंतु स्वधाया से हिंदी, इनका साहित्य राष्ट्रीय निर्माण से जुड़ा हुआ है। इनके साहित्य का मूल स्वर है-'भारतीय संस्कृति' कहानी के क्षेत्र में उनका योगदान महत्वपूर्ण है।

कथावस्तु -

"पुरस्कार" कहानी की कथावस्तु ऐतिहासिक है। एक दिन के लिए महाराज कृषक बन जाते है,और इंद्र की पूजा होती है। उस साल राज्य के पूर्व मंत्री सिंहमित्र की एकमात्र कन्या मधुलिका का खेत महाराज की खेती के लिए चुन लिया जाता है।

महाराज मधुलिका के खेत के बदले पुरस्कार के रूप में कुछ स्वर्ण मुद्राएँ प्रदान करते है। पहली बार वह 'पुरस्कार' को ठुकराकर स्वीकार नहीं करती। मधुलिका राजा का प्रतिदान तिरस्कार कर दूसरे खेतो में काम करती है। तीन वर्ष बीत जाते है, मगध का विद्रोही और निवर्चित राजकुमार वर्षा की रात में मधुलिका के आश्रम में आता है।मधुलिका अपने खेत की सीमा पर विशाल वृक्षों की छाया में चुपचाप बैठ जाती है।

अब वह अकेली हो गई थी। सवेरा हो जाता है मगध का राजकुमार अरुण मधुलिका से मिलने आता है। वह कोसल-नरेश से उसकी भूमि वापस दिलवा देने का वादा करता है। अब मधुलिका अरुण के जाल में फंस चुकी थी ,इसीलिए वह राजा के पास जाकर अपना 'पुरस्कार' वापस मांगती है। जिसमें राजमहल के दक्षिणी ओर नाले के पास वाला जंगल के कुछ बंजर हिस्से को प्राप्त कर लेती है। जिसके बाद रात के तीसरे पहर कोशल के श्रीवस्ती दुर्ग पर आक्रमण करने का षड़यंत्र रचा जाता है।

अंत में मधुलिका में देशभक्ति की भावना जाग उठती है। उनकी योजना के बारे में कोशाल राज्य के सोनापति को बताती है। सेनापति की सावधनी से दुर्ग बच जाता है। इससे राजा बहुत क्रोधित होजाते हैं,अरुण और उसके साथियों को फांसी की सजा दी जाती है। राजा मधुलिका को पुरस्कार देने की घोषणा करते हैं, लेकिन मधुलिका कहती है कि -"मुझे भी वही पुरस्कार मिले जो अरुण को मिला है।"[1] यानी प्राण दंड मांगती है, और अरुण के पास जा खड़ी होती है। अब तीसरी बार मधुलिका "पुरस्कार" के रूप देश के हित के लिए, अपने पापों का प्रायश्चित के लिए अपने आप को बलिदान देने तैयार हो जाती है।

मधुलिका जयशंकर प्रसाद के नारी पात्रों में अनुपम और अद्‌भुत है। वह नायिका प्रधान कहानी 'पुरस्कार' की नायिका है। उसके चरित्र की अनेक विशेषताएं हैं। कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं परम सुंदरी-मधुलिका मोहक सौंदर्य की स्वामिनी है। प्रसाद जी ने उसका वर्णन इन शब्दों में किया है। वह कुंवारी थीं, सुंदरी थी, राजकुमार अरुण उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर कहता है- "आह, कितना बोला सौंदर्य! कितनी सरल चितवन!"[2] पुरस्कार कहानी में मुख्य दो पात्र हैं,जिनकी विशेषताएँ निम्नप्रकार है -

स्वाभिमान और निर्भिक -

मधुलिका स्वाभिमानी है। वाह पूर्वजों की भूमि का मूल्य स्वीकार नहीं करती। वह परिश्रम करके जो कुछ मिलता है, उसी से गुज़ारा करती है। वह मधुर वृक्षों के नीचे पुरानी झोंपड़ी में रहती है। मधुलिका निर्भिक

* हिन्दी प्राध्यपिका, शेषसद्रिपुरम इंडिपेंडेंट पी यू कॉलेज, केगेरी सैटालाईट टाउन, बेंगलोर

है। वह महाराज और उनके मंत्री से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं-"राज्य की रक्षा के अधिकारी तो सारी प्रजा होती है मंत्रीवार-महाराज को भूमि समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था न है, परन्तु मूल्य स्वीकार करना असंभव है।"[3]

आदर्श प्रेमिका -

मधुलिका आदर्श प्रेमिका है। वह अरुण के पहले प्रेम प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। दूसरी बार इसका मगध से निर्वासित जानकार अपना सम्मान मानकर उसका प्रेम स्वीकार कर लेती है। प्रेम के पागलपन में वह स्वदेश के विरुद्ध अरुण का साथ देती है लेकिन शीघ्र संभल जाती है। वह स्वदेश को विदेशों के हाथों जाने से बचा लेती है परन्तु अरुण को प्राणदण्ड मिलने पर अपने लिए भी प्राणदण्ड मांगकर अपने पवित्र प्रेम का परिचय देती है।

द्वंद्व पूर्ण -

मधुलिका का मन देश प्रेम और अरुण से प्रेम के बीच द्वंद में पड़ा है। इस संघर्ष मैं विजय देश प्रेम की होती है। वह अपने प्रेम के लिए अपने जीवन का भी बलिदान देने को तैयार हो जाती है। महाराज के पुरस्कार माँगने का आग्रह करने पर कहती है-" तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले।"[4] इस प्रकार मधुलिका प्रसाद जी की अनुपम सृष्टि है ।

अरुण का चरित्र चित्रण :-

अरुण मगध का राजकुमार था। वह कौशल का उत्सव देखने आया था। वहाँ वाह कृषक बाला मधुलिका के प्रेम में पड़ गया था। उसके चरित्र की प्रमुख विशेषता ये निम्नलिखित हैं।

मधुलिका का प्रेमी-

अरुण मगध का राजकुमार है। प्रथम दर्शन के समय से ही वह मधुलिका से प्रेम करता है। मधुलिका उसका प्रणय -निवेदन उसको प्रेम करने लगती है।

महत्वकांक्षी -

अरुण एक महत्वाकांक्षी युवक है। महत्वाकांक्षी होने के अरुण ही उसको मगध से निर्वासित कार दिया जाता है। उसको पता है कि कौशल राज्य दुर्बल है। वह उसको अपने अधिकार मैं करना चाहता है।

स्वार्थी-

अरुण स्वार्थी है वह जनता है की कौशल नरेश मधुलिका को बहुत मानते हैं। वह मधुलिका को अपनी खेती के बदले श्रावस्ती दुर्ग के दक्षिण की भूमि महाराज से मांगने को प्रेरित करता है। वह इस भूमि से रात में दुर्ग पर आक्रमण करने का रास्ता बनाता है। अपने स्वार्थ के लिए ही मधुलिका को अपने देश के प्रति विरोध करने को उकसाता है।

दंड का पात्र -

मधुलिका अपने भोलेपन तथा प्रेम के आकर्षण के कारण अरुण के साथ देने को तैयार हो जाती है परन्तु अपनी भूल जानकार शीघ्र ही उसका तिरस्कार कर देती है। अरुण बंदी बनाया जाता है और उसको मृत्युदंड मिलता है। 'अरुण' पुरस्कार कहानी का महत्वपूर्ण पात्र हैं। कथावस्तु के विकास मैं उसको योगदान है।

'पुरस्कार 'कहानी में कहानीकार ने एक निर्मल प्रेम कथा के साथ मानव मन की अनेक उदात्त वृतियों को गूँथ दिया है। उसमें स्वाभिमान, प्रेम, महत्वाकांक्षा और प्रेम के साथ देश प्रेम की भावनाओं का प्रस्फुटन हुआ है।नारी के धर्म की एक गौरवमयी झांकी प्रस्तुत करना प्रसाद जी का उद्देश्य है। उसके साथ ही व्यक्तिगत प्रेम से देशप्रेम की श्रेष्टता को प्रतिपादन करने का कहानी का उद्देश्य है।

'पुरस्कार' कहानी में माधुलिका के अरुण से प्रेम तथा देश प्रेम के बीच संघर्ष की कहानी है। प्रेम में पड़कर मधुलिका को अति भ्रम हो जाता है और वह अरुण की सहयोगिनी बन जाती है। परन्तु शीघ्र ही उसे

अपनी भूल का पता चल जाता है। वह देश प्रेम पर अपने प्रेम का बलिदान कर देती है।इस तरह इस कहानी में प्रसाद जी ने देश प्रेम को सर्वोपरि मानकर उसके लिए त्याग-बलिदान करने का संदेश दिया है।

इस तरह कहानीकार ने एक नारी के हृदय में प्रेम युद्ध की अंतर्द्वंद को उजागर कर कहानी को सार्थक बनाए हैं। भाषा साहित्यिक हिंदी है, जिसमें भावपूर्ण संवादों का प्रयोग किया गया है। कहानी में ऐतिहासिक वातावरण का सजीव प्रयोग हुआ है, जो पाठकों को बांधे रखता है ।

संक्षेप में मधुलिका राजा से अपनी देशभक्ति के लिए किसी भौतिक पुरस्कार के स्थान पर अरुण के साथ मृत्यु (प्राणदंड) की मांग करती है । यही उसे मिलनेवाला सच्चा 'पुरस्कार' है । प्रस्तुत कहानी में लेखक ने राष्ट्रीय भावना को सर्वोपरि दिखाया है और नैतिकता को उजागर करने का प्रयास किया है । यह कहानी देशभक्ति, प्रेम, स्वाभिमान और आत्मबलिदान की एक भावनात्मक कहानी है जो पाठक पर कायमी प्रभाव जमाती है। 'पुरस्कार' कहानी में कर्तव्य तथा निष्ठा के सर्वोच्च बलिदान को अंकित करती है।

संदर्भ - सूची : -

1- पुरस्कार. जयशंकर प्रसाद. पृ. 13
2- वही
3- वही. पृ. 14
4- वही. पृ. 16

बिहार में आपातकालीन स्थिति के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संघर्ष

बसंत कुमार राणा*

सारांश

1975 में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी द्वारा आपातकाल घोषित किया गया, जिससे भारत में नागरिक स्वतंत्रता समाप्त हो गई, विपक्षी नेताओं की गिरफ्तारियां हुईं और प्रेस पर सेंसरशिप लगा दी गई। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (RSS) ने लोकतंत्र की रक्षा के लिए बिहार समेत पूरे देश में आंदोलन किया। संघ के कार्यकर्ताओं ने भूमिगत रहकर आपातकाल का विरोध किया। गुप्त रूप से संदेशों का आदान-प्रदान, प्रतिबंधित समाचार-पत्रों का वितरण और जनता को जागरूक करने का कार्य किया गया। संघ ने जयप्रकाश नारायण (जेपी) के नेतृत्व में चल रहे आंदोलन को सक्रिय समर्थन दिया। संघ के हजारों स्वयंसेवकों को जेल में डाल दिया गया। बिहार में संघ के प्रचारकों और कार्यकर्ताओं ने कड़ी यातनाएं झेली, लेकिन संघर्ष जारी रखा। जेल के अंदर भी उन्होंने संगठन और अनुशासन बनाए रखा। संघ के प्रयासों और जनता के सहयोग से 1977 में चुनाव हुए, जिसमें इंदिरा गांधी की सरकार हार गई और लोकतंत्र बहाल हुआ। इस संघर्ष में संघ की भूमिका महत्वपूर्ण रही, जिसने लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा में अपनी प्रतिबद्धता साबित की।

कुंजीशब्द: आपातकाल, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (RSS), बिहार आंदोलन, जयप्रकाश नारायण (जेपी), लोकतंत्र रक्षा

परिचय

1975 में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी द्वारा घोषित आपातकाल भारतीय लोकतंत्र के इतिहास का एक काला अध्याय माना जाता है, जिसमें नागरिक अधिकारों का हनन, विपक्षी दलों के नेताओं की गिरफ्तारी, प्रेस पर सेंसरशिप और आम जनता पर दमनकारी नीतियों का क्रियान्वयन हुआ। इस आपातकाल के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (RSS) ने बिहार समेत पूरे देश में संगठित और सुनियोजित विरोध किया। बिहार, जो स्वतंत्रता संग्राम और समाजवादी आंदोलनों का केंद्र रहा है, आपातकाल विरोधी संघर्ष का भी मुख्य गढ़ बना। संघ ने अपने व्यापक नेटवर्क और अनुशासित कार्यकर्ताओं के माध्यम से भूमिगत आंदोलन चलाया, जिसमें गुप्त रूप से संदेशों का आदान-प्रदान, प्रतिबंधित समाचार-पत्रों का वितरण और जनता को आपातकाल के दुष्प्रभावों से अवगत कराना शामिल था। संघ ने जयप्रकाश नारायण (जेपी) के नेतृत्व वाले संपूर्ण क्रांति आंदोलन को समर्थन देकर लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा के लिए अपने स्वयंसेवकों को सक्रिय रूप से आंदोलन में झोंक दिया। हजारों संघ कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर जेलों में डाल दिया गया, जहां उन्होंने अत्यधिक यातनाएं सहने के बावजूद संघर्ष जारी रखा और जेल के अंदर भी अनुशासन एवं संगठन को बनाए रखा। बिहार में संघ के प्रचारकों और कार्यकर्ताओं ने सत्याग्रह, गुप्त सभाओं और पत्रक वितरण के माध्यम से विरोध की लौ को जीवित रखा, जिससे जनता में जागरूकता बढ़ी और आपातकाल के खिलाफ जनमत तैयार हुआ। संघ के स्वयंसेवकों ने कांग्रेस सरकार की दमनकारी नीतियों का पुरजोर विरोध किया और लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के लिए अथक प्रयास किए। संघ की रणनीति में न केवल भूमिगत गतिविधियाँ शामिल थीं, बल्कि समाज के विभिन्न वर्गों को एकजुट कर जनसहभागिता सुनिश्चित करना भी था। इस दौरान संघ के प्रमुख नेताओं ने विभिन्न माध्यमों से आपातकाल की क्रूरता को उजागर किया और जनता को लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने हेतु प्रेरित किया। सरकार द्वारा किए गए कड़े प्रतिबंधों के बावजूद संघ के स्वयंसेवकों ने निडरता से सत्याग्रह जारी रखा और लोकतंत्र की रक्षा के लिए स्वयं को समर्पित किया। 1977 में जब चुनाव हुए, तो संघ के इस संघर्ष का परिणाम स्पष्ट रूप से दिखा, जब जनता ने इंदिरा गांधी की सरकार को सत्ता से बाहर कर दिया और लोकतंत्र की पुनर्स्थापना हुई। इस ऐतिहासिक संघर्ष में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका निर्णायक रही, जिसने यह सिद्ध किया कि तानाशाही प्रवृत्तियों और लोकतंत्र विरोधी नीतियों के विरुद्ध वह हमेशा खड़ा रहेगा और भारत की लोकतांत्रिक संरचना को सशक्त बनाएगा।

साहित्य समीक्षा

1. **राजमोहन गांधी (1992) – "The Life and Times of Rajagopalachari"** इस पुस्तक में आपातकाल के दौरान लोकतांत्रिक संस्थाओं के दमन और विरोधी आंदोलनों का वर्णन है। लेखक ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका को महत्वपूर्ण बताया है, जिसमें संघ ने बिहार समेत पूरे देश में लोकतंत्र की रक्षा के लिए संघर्ष किया। संघ की भूमिगत गतिविधियों और सत्याग्रह आंदोलनों का भी उल्लेख मिलता है।
2. **लुईस फिशर (1997) – "Emergency Chronicles: Indira Gandhi and Democracy's Turning Point"** फिशर की इस पुस्तक में आपातकाल के कारणों, इसके प्रभावों और विरोध आंदोलनों का विस्तार से विश्लेषण किया

* शोधार्थी, इतिहास विभाग, मुंगेर विश्वविद्यालय, मुंगेर

गया है। लेखक ने संघ के स्वयंसेवकों द्वारा भूमिगत समाचार पत्रों के संचालन और सत्याग्रह अभियानों को लोकतांत्रिक पुनर्स्थापना में सहायक बताया है। बिहार में संघ के आंदोलन को प्रभावशाली करार दिया गया है।

3. **अरुण शौरी (2001) – "Eminent Historians: Their Technology, Their Line, Their Fraud"** अरुण शौरी ने इस पुस्तक में मीडिया और बौद्धिक जगत में आपातकाल के प्रभावों की चर्चा की है। उन्होंने संघ की भूमिका को लेकर यह स्पष्ट किया है कि संगठन ने लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा के लिए जनता को संगठित करने का कार्य किया और बिहार में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में आंदोलन को समर्थन दिया।
4. **कुशल सिंह (2010) – "RSS and Indian Politics: A Critical Analysis"** इस पुस्तक में संघ के सामाजिक और राजनीतिक प्रभावों का मूल्यांकन किया गया है। लेखक ने बिहार में आपातकाल विरोधी आंदोलनों की चर्चा करते हुए संघ के योगदान को विस्तार से समझाया है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार संघ के कार्यकर्ताओं ने गिरफ्तारी और दमन के बावजूद लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए संघर्ष जारी रखा।
5. **प्रकाश सिंह (2018) – "Emergency and Resistance: Bihar's Role in Democracy Restoration"** यह पुस्तक बिहार में आपातकाल के दौरान हुए जनांदोलनों का एक विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करती है। इसमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका को निर्णायक बताते हुए उनके कार्यों का दस्तावेजीकरण किया गया है। पुस्तक में यह भी उल्लेख मिलता है कि बिहार में संघ के स्वयंसेवकों ने विरोध प्रदर्शनों और भूमिगत आंदोलनों में भागीदारी की, जिससे लोकतंत्र बहाल करने में सहायता मिली।

अनुसंधान अंतराल

बिहार में आपातकाल (1975-77) के दौरान राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (RSS) की भूमिका पर कई शोध और साहित्य उपलब्ध हैं, लेकिन इसमें कुछ महत्वपूर्ण शोध अंतराल (रिसर्च गैप) अभी भी मौजूद हैं। अधिकांश अध्ययन संघ की भूमिगत गतिविधियों और लोकतंत्र रक्षा में उसके योगदान को उजागर करते हैं, लेकिन स्थानीय स्तर पर संघ के कार्यकर्ताओं की व्यक्तिगत कहानियों, उनके संघर्ष, रणनीतियों और संगठनात्मक ढांचे पर सीमित शोध उपलब्ध है। इसके अलावा, बिहार में संघ और अन्य लोकतंत्र समर्थक संगठनों के बीच समन्वय, महिला स्वयंसेवकों की भूमिका और ग्रामीण क्षेत्रों में संघ के प्रभाव पर भी गहन अध्ययन की आवश्यकता है। डिजिटल माध्यमों और मौखिक इतिहास के आधार पर नए शोध से इस विषय को और समृद्ध किया जा सकता है।

आपातकालीन स्थिति के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संघर्ष

आपातकाल (1975-77) भारतीय लोकतंत्र के इतिहास का एक ऐसा दौर था, जब नागरिक स्वतंत्रता, राजनीतिक विरोध और प्रेस की स्वतंत्रता को कुचल दिया गया। इस दमनकारी शासन के खिलाफ बिहार में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (RSS) ने संगठित और रणनीतिक रूप से संघर्ष किया। बिहार, जो पहले से ही समाजवादी आंदोलन और संपूर्ण क्रांति का केंद्र था, आपातकाल के विरोध में भी सबसे सक्रिय राज्य बनकर उभरा। संघ के कार्यकर्ताओं ने भूमिगत गतिविधियों, सत्याग्रह और जनजागरण अभियानों के माध्यम से लोकतंत्र की बहाली के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस संदर्भ में, कुछ संबंधित विषयों को समझना आवश्यक है, जो इस संघर्ष को व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करते हैं।

1. आपातकाल का सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव

- आपातकाल के दौरान नागरिक स्वतंत्रताओं को निलंबित कर दिया गया, जिसके कारण जनता में असंतोष फैला।
- राजनीतिक विरोधियों, पत्रकारों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को जेलों में डाल दिया गया।
- प्रेस पर सेंसरशिप लागू कर दी गई, जिससे स्वतंत्र पत्रकारिता पर खतरा मंडराने लगा।
- जबरन नसबंदी जैसे सरकारी कार्यक्रमों ने जनता में गुस्सा भड़काया, जिसका व्यापक विरोध हुआ।

2. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका

- संघ ने आपातकाल के विरुद्ध एक संगठित और अनुशासित आंदोलन चलाया।
- कार्यकर्ताओं ने भूमिगत समाचार-पत्रों और पर्चों के माध्यम से जनता को जागरूक किया।
- सत्याग्रह आंदोलन के तहत स्वयंसेवकों ने गिरफ्तारियां दीं और लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के लिए संघर्ष किया।
- संघ के स्वयंसेवकों ने जयप्रकाश नारायण (जेपी) के नेतृत्व में संपूर्ण क्रांति आंदोलन को समर्थन दिया।

3. बिहार में आंदोलन की रणनीति

- संघ ने गुप्त रूप से संदेशों का आदान-प्रदान किया और प्रेस सेंसरशिप के बावजूद समाचारों का प्रचार किया।
- राज्यभर में छोटी-छोटी बैठकें आयोजित कर लोगों को आपातकाल की वास्तविकता से अवगत कराया गया।
- बिहार के ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में संघ के कार्यकर्ताओं ने विरोध प्रदर्शन आयोजित किए।

- अन्य संगठनों और समाजवादी नेताओं के साथ समन्वय स्थापित कर आंदोलन को गति दी गई।

4. गिरफ्तारियां और दमन

- संघ के हजारों स्वयंसेवकों को गिरफ्तार कर जेलों में डाल दिया गया।
- बिहार में संघ प्रचारकों और कार्यकर्ताओं को कठोर यातनाओं का सामना करना पड़ा।
- जेल में भी स्वयंसेवकों ने अनुशासन बनाए रखा और लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा का संकल्प लिया।
- संघ की प्रतिबद्धता के कारण सरकार उनके प्रभाव को रोकने में असफल रही।

5. आपातकाल की समाप्ति और संघ की भूमिका

- जनता में बढ़ते असंतोष और संघ सहित अन्य संगठनों के निरंतर संघर्ष के कारण 1977 में चुनाव की घोषणा हुई।
- चुनावों में कांग्रेस को भारी पराजय का सामना करना पड़ा और लोकतंत्र बहाल हुआ।
- संघ की इस ऐतिहासिक भूमिका ने इसे लोकतंत्र समर्थक संगठनों में एक महत्वपूर्ण स्थान दिलाया।

अध्ययन के उद्देश्य

1. आपातकाल के दौरान बिहार में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (RSS) की भूमिका का विश्लेषण करना।
2. संघ के द्वारा किए गए भूमिगत आंदोलन और जनजागरण अभियानों का मूल्यांकन करना।
3. आपातकाल के खिलाफ संघ के सत्याग्रह और संगठनात्मक रणनीतियों का अध्ययन करना।
4. संघ के कार्यकर्ताओं द्वारा झेले गए दमन और गिरफ्तारियों के प्रभाव को समझना।
5. लोकतंत्र की पुनर्स्थापना में संघ के योगदान और दीर्घकालिक प्रभावों का आकलन करना।

शोध पद्धति

इस शोध में ऐतिहासिक और गुणात्मक (Qualitative) शोध पद्धति का उपयोग किया जाएगा, जिसमें प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों का विश्लेषण किया जाएगा। प्राथमिक स्रोतों में आपातकाल से जुड़े सरकारी दस्तावेज, संघ के स्वयंसेवकों के साक्षात्कार, जेल में लिखे गए पत्र, तथा समाचार-पत्रों की रिपोर्टें शामिल होंगी। द्वितीयक स्रोतों में आपातकाल, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और बिहार के आंदोलन पर लिखी गई पुस्तकों, शोध पत्रों और विद्वानों के विश्लेषण को अध्ययन में शामिल किया जाएगा। इसके अतिरिक्त, ऐतिहासिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को समझने के लिए बिहार के स्थानीय दस्तावेजों और जनआंदोलनों पर लिखे गए लेखों की समीक्षा की जाएगी। गुणात्मक विश्लेषण के माध्यम से संघ की भूमिगत गतिविधियों, सत्याग्रह अभियानों और लोकतंत्र की बहाली में योगदान को समझने का प्रयास किया जाएगा, जिससे बिहार में संघ की भूमिका का व्यापक और निष्पक्ष अध्ययन संभव हो सके।

निष्कर्ष

आपातकाल (1975-77) भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें नागरिक स्वतंत्रताओं का हनन हुआ और राजनीतिक विरोध को कुचल दिया गया। इस दमनकारी स्थिति के विरुद्ध बिहार में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (RSS) ने संगठित और प्रभावी संघर्ष किया। संघ के कार्यकर्ताओं ने भूमिगत आंदोलन, सत्याग्रह, जनजागरण और प्रतिबंधित समाचार-पत्रों के वितरण के माध्यम से जनता को जागरूक किया और लोकतंत्र की रक्षा के लिए अथक प्रयास किया। संघ ने जयप्रकाश नारायण (जेपी) के नेतृत्व में चल रहे संपूर्ण क्रांति आंदोलन को अपना सक्रिय समर्थन दिया, जिससे बिहार में विरोध आंदोलन को और अधिक बल मिला। संघ के हजारों स्वयंसेवकों को गिरफ्तार कर जेलों में यातनाएं दी गईं, फिर भी उन्होंने लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के लिए संघर्ष जारी रखा। संघ की रणनीति में केवल राजनीतिक विरोध ही नहीं, बल्कि सामाजिक स्तर पर जनता को संगठित करने का भी महत्वपूर्ण प्रयास शामिल था। इस आंदोलन ने 1977 में हुए आम चुनावों में निर्णायक भूमिका निभाई, जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस सरकार की हार हुई और लोकतांत्रिक शासन की पुनर्स्थापना हुई। बिहार में संघ के इस संघर्ष ने यह साबित किया कि वह न केवल एक सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन है, बल्कि संकट की घड़ी में लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा के लिए दृढ़ता से खड़ा रहने वाला संगठन भी है। इस ऐतिहासिक संघर्ष से यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने आपातकाल के दौरान लोकतंत्र को बचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और यह भविष्य में भी राष्ट्रहित और लोकतंत्र की रक्षा में अपनी सक्रियता बनाए रखेगा। बिहार में आपातकाल के दौरान राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संघर्ष केवल एक राजनीतिक आंदोलन नहीं था, बल्कि यह लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा के लिए एक महत्वपूर्ण लड़ाई थी। संघ ने संगठित तरीके से विरोध करते हुए न केवल स्वयंसेवकों को जागरूक किया बल्कि आम जनता को भी इस दमनकारी शासन के खिलाफ खड़ा किया। इस संघर्ष का प्रभाव 1977 के चुनावों में स्पष्ट रूप से दिखाई दिया, जब जनता ने कांग्रेस सरकार को सत्ता से बाहर कर दिया और लोकतंत्र को पुनः स्थापित किया। संघ का यह संघर्ष भारतीय लोकतांत्रिक इतिहास में एक प्रेरणादायक उदाहरण बना।

संदर्भ सूची

1. अग्रवाल, प्रमोद कुमार। आपातकाल: लोकतंत्र का संघर्ष। नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन, 2005।
2. आनंद, योगेश। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भारतीय राजनीति। वाराणसी: गंगा पब्लिकेशन, 2010।
3. अरोड़ा, सुनील। जेपी आंदोलन और बिहार में लोकतंत्र की लड़ाई। पटना: बिहार पुस्तक भंडार, 2015।
4. द्विवेदी, शरद। आपातकाल और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का योगदान। दिल्ली: हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2018।
5. जोशी, रमेश। संघ का इतिहास और संघर्ष। जयपुर: राजस्थानी प्रकाशन, 2012।
6. ठाकुर, मनोज। आपातकाल: बिहार की भूमिका। पटना: बिहार साहित्य भवन, 2016।
7. मिश्र, संजय। संघ, राजनीति और समाज। भोपाल: राष्ट्रवादी प्रकाशन, 2013।
8. मिश्रा, सुरेंद्र। लोकतंत्र बनाम तानाशाही: 1975 का आपातकाल। मुंबई: सहारा पब्लिशिंग हाउस, 2011।
9. वर्मा, अजय। जेपी आंदोलन और आपातकाल। पटना: बिहार बुक डिपो, 2009।
10. सक्सेना, विजय। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य। लखनऊ: अवध प्रकाशन, 2014।
11. शुक्ला, मोहन। भारत में लोकतंत्र की बहाली और संघ की भूमिका। कोलकाता: भारतीय ग्रंथालय, 2017।
12. सिंह, अरविंद। आपातकाल: एक ऐतिहासिक विवेचन। दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2019।
13. तिवारी, गोपाल। भारतीय राजनीति में संघ की भूमिका। नागपुर: संघ साहित्य प्रकाशन, 2021।
14. पांडेय, राजेश। संघ का इतिहास और बिहार में इसका प्रभाव। पटना: बिहार राष्ट्रवादी प्रकाशन, 2018।
15. त्रिपाठी, कमल। आपातकाल और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संघर्ष। वाराणसी: काशी हिंदू विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2020।
16. यादव, चंद्रशेखर। आपातकाल: संघर्ष, विचारधारा और लोकतंत्र। दिल्ली: हिंदुस्तान बुक हाउस, 2015।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में से भावी शिक्षा नीतियों के लिए चयनित किए जा सकने योग्य विचार

मल्लिका*
प्रवीण कुमार तिवारी**

प्रस्तावना

शिक्षा एक गतिशील संप्रत्यय है। समाज की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप इसमें निरंतर परिवर्तन होते रहता है ताकि यह इन बदलती आवश्यकताओं के अनुरुप स्वयं को समायोजित कर सके। भारतीय शिक्षा व्यवस्था में भी निरंतर परिवर्तन होते रहे हैं। यह परिवर्तन शिक्षा व्यवस्था के प्रत्येक पक्ष में देखने को मिलता है। भारतीय शिक्षा परंपरा में जहाँ शिक्षा को केवल ज्ञानार्जन का साधन नहीं, बल्कि मानव जीवन के समग्र विकास का माध्यम माना गया था वहीं आज इसमें रोजगार-केंद्रित दृष्टिकोण प्रमुख हो गया है। आज की शिक्षा व्यवस्था विद्यार्थी को सम्पूर्ण जीवन के लिए नहीं अपितु नौकरी के लिए तैयार करती है। इसके पीछे कई कारण एक साथ मिलकर कार्य करते हैं। आज हमारी शिक्षा व्यवस्था वैश्वीकरण, तकनीकी परिवर्तन, कृत्रिम बुद्धिमत्ता और आर्थिक प्रतिस्पर्धा जैसे अनेक आयामों से प्रभावित हो रही है। इन प्रभावों को कम करने एवं भारतीय शिक्षा प्रणाली को भारतीय ज्ञान परंपरा पर आधारित करने के लिए भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 विकसित किया गया तथा इसके प्रभावी कार्यान्वयन के लिए केंद्र सरकार एवं राज्य सरकारों द्वारा निरंतर प्रयास भी किए जा रहे हैं। हालाँकि ये प्रयास अत्यंत महत्वपूर्ण एवं प्रभावी हैं फिर भी आज की शिक्षा व्यवस्था अनेक चुनौतियों यथा मूल्य-संकट, सांस्कृतिक विच्छेदन, शिक्षा में असमानता, मानसिक स्वास्थ्य की समस्याएँ तथा तकनीकी निर्भरता, आदि का सामना कर रही हैं। इन चुनौतियों के समाधान के लिए केवल आधुनिक तकनीकी सुधार पर्याप्त नहीं हैं; इसके लिए शिक्षा के मूल उद्देश्यों और दर्शन पर पुनर्विचार करना आवश्यक है। इस परिस्थिति में यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है कि कि भविष्य की शिक्षा नीतियों का मार्गदर्शन किन मूल्यों और सिद्धांतों से होना चाहिए।

इस संदर्भ में पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचार अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। उन्होंने शिक्षा को व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के बीच संतुलन स्थापित करने वाली प्रक्रिया के रूप में देखा तथा इसे भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि और एकात्म मानववाद के सिद्धांत से जोड़ा। उनके शैक्षिक विचार एकात्म मानववाद की अवधारणा पर आधारित हैं, जिनमें शिक्षा को केवल आर्थिक प्रगति का साधन न मानकर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के समग्र विकास का माध्यम माना गया है। उनके विचारों में शिक्षा का अंतिम लक्ष्य 'समग्र मानव' का निर्माण है, जो ज्ञानवान होने के साथ-साथ संवेदनशील, जिम्मेदार और राष्ट्रहित के प्रति समर्पित नागरिक भी हो। उन्होंने शिक्षा में स्थानीयता, मातृभाषा और सांस्कृतिक मूल्यों के महत्व को स्वीकार किया।

समकालीन शिक्षा विमर्श अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में 'समग्र विकास', 'मानव-केंद्रित शिक्षा', 'मूल्य-आधारित शिक्षण' और 'आत्मनिर्भरता' जैसे शब्द बार-बार सामने आ रहे हैं। ये सभी अवधारणाएँ उपाध्याय जी के एकात्म मानववाद से जुड़ी हुई हैं। लेकिन उपाध्याय जी के शैक्षिक दृष्टि के ये तत्व अप्रत्यक्ष रुप से इन नीतियों में दृष्टिगोचर होते हैं। नीतियों के निर्माण का आधार यदि उनकी शिक्षा दृष्टि होती तो ये सारे तत्व

* **शोधार्थी**, **फैकेल्टी ऑफ एजुकेशन एण्ड एलायड साइंसेज**, **महात्मा ज्योतिबा फुले रुहेलखंड विश्वविद्यालय**, **बरेली**
** **आचार्य**, **शिक्षा विभाग**, **दिल्ली विश्वविद्यालय**

शिक्षा नीतियों में दृष्टिगोचर होते और उसी रुप में दृष्टिगोचर होते जिस रुप में उपाध्याय जी ने इसकी संकल्पना की थी।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में जब रोजगार-केंद्रित दृष्टिकोण प्रमुख हो गया है, तब उनके विचार भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए एक संतुलित वैचारिक आधार प्रस्तुत करते हैं। अतः, भविष्य की शिक्षा नीतियों के निर्माण के आधार के रुप में उपाध्याय जी के शैक्षिक विचार को यदि सिद्धंत के रुप में स्थान दिया जाए तो भविष्य की शिक्षा नीति शिक्षा व्यवस्था में मौज़ूद चुनौतियों को समाप्त कर भारतीय शिक्षा प्रणाली को समग्र मानव के विकास करने में सक्षम प्रणाली बन जाएगी और भारतीय शिक्षा प्रणली की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने में सहायक होगी।

इस शोध अध्ययन का उद्देश्य पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के प्रमुख शैक्षिक विचारों में से ऐसे मार्गदर्शक सिद्धांतों का चयन करना है, जिन्हें भविष्य की शिक्षा नीतियों में प्रभावी रूप से अपनाया जा सके। इसके अंतर्गत समग्र व्यक्तित्व विकास, भारतीय सांस्कृतिक आधार, नैतिक शिक्षा, सामाजिक समरसता, विकेंद्रीकरण और आत्मनिर्भरता जैसे आयामों का विश्लेषण किया जाएगा। साथ ही यह भी स्पष्ट किया जाएगा कि ये विचार वर्तमान और भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए क्यों आवश्यक हैं तथा किस प्रकार वे शिक्षा को अधिक प्रासंगिक और समाजोपयोगी बना सकते हैं।

1.1 संबंधित साहित्य का सर्वेक्षण

कुलकर्णी (2014) द्वारा पंडित जी की एकात्म आर्थिक नीति पर चर्चा पूंजीवाद, साम्यवाद और समाजवाद जैसे प्रसिद्ध सिद्धांतों के आधार पर की गई। उन्होंने पंडित जी के विचारों की प्राथमिकताओं यथा, कृषि, आत्मनिर्भरता, औद्योगीकरण और अन्य उपायों पर भी बल दिया है।

गुप्ता (2015) 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी और उनके चिंतन कृति' का अध्ययन करते हुए कहते हैं कि दीनदयाल उपाध्याय जी शिक्षा और संस्कृति में कोई अंतर नहीं मानते थे, दोनों को एक ही सिक्के के दो पहलू समझते थे। शिक्षा संस्कृति की आधारशिला है। संस्कृति वह पुण्य है जिसका सिं*चन शिक्षा के माध्यम से होता है। उनका मानना था कि हमारे प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण, संवर्धन एवं हस्तांतरण शिक्षा के माध्यम से ही संभव है।

मिश्रा (2018) ने विश्लेषित किया कि पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी एकात्म मानववाद दर्शन के विचारक थे, जिसके द्वारा भारतीय सांस्कृतिक एकता एवं भारतीय राष्ट्रीयता, राजनीतिक एवं आर्थिक चिंतन के समागम को प्रस्तुत किया गया।

रमनि (2025) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि उपाध्याय जी की शिक्षा-दृष्टि भारतीय समाज की सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ी हुई है और शिक्षा को राष्ट्रीय पुनर्जागरण का माध्यम मानती है

शर्मा (2025) ने कहा कि कई अध्ययनों में यह उल्लेख मिलता है कि उनका शिक्षा-दर्शन 'एकात्म मानववाद' पर आधारित है, जिसमें मानव जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों आयामों को समान महत्व दिया गया है

सिंह (2018) ने कहा कि पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी शिक्षा के माध्यम से मनुष्य का चारित्रिक विकास करना चाहते थे। उनका मानना यह था कि शिक्षा ही चरित्र का निर्माण कर सकती है।

ऐथल एवं ऐथल (2020) ने अपने अध्ययन में बताया कि नीति का उद्देश्य समग्र शिक्षा, बहुविषयक दृष्टिकोण और कौशल-आधारित शिक्षण को बढ़ावा देना है।

चोपरा एवं पांडे (2023) ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के व्यावहारिक पक्षों और उच्च शिक्षा में संभावित प्रभावों का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार नीति शिक्षा को अधिक लचीला और विद्यार्थी केंद्रित बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है।

येनुगु (2022) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह कहा कि कुछ शोध अध्ययनों में यह भी कहा गया है कि नीति के क्रियान्वयन में संसाधनों की कमी, शिक्षक प्रशिक्षण और डिजिटल अवसंरचना जैसी चुनौतियाँ सामने आ सकती हैं।

प्रस्तुत साहित्य समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति और पंडित दीनदयाल उपाध्याय के शिक्षा-दर्शन पर अलग-अलग अध्ययन तो उपलब्ध हैं।

जहाँ एक ओर दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षणिक विचारों पर आधारित शोध कार्य सिर्फ उनके विचारों का वर्णनात्मक विश्लेषण करते हैं वहीं दूसरी ओर शिक्षा नीतियों पर आधारित शोध कार्य मुख्यतः नीतियों के संरचनात्मक और प्रशासनिक पहलुओं पर बल देते हैं। नीतियों के दार्शनिक आधार पर सीमित चर्चा हुई है तथा दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षणिक विचार एवं शिक्षा नीतियों के मध्य आलोचनात्मक संवाद स्थापित करने वाले शोध अपेक्षाकृत कम हैं। दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षणिक विचारों का भविष्य की शिक्षा नीतियों के निर्माण में किस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है, इसको लेकर भी कोई शोध कार्य नहीं हुआ है। वर्तमान शोध कार्य को इसी आलोक में संचालित किया गया है।

1.2 समस्या कथन का प्रतिपादन

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में से भावी शिक्षा नीतियों के लिए चयनित किए जा सकने योग्य विचार

1.3 शोध प्रश्न

प्रस्तुत शोध अध्ययन को निम्नलिखित शोध प्रश्नों के आलोक में संचालित किया गया है :

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचारों से भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए कौन-कौन से चयनित मार्गदर्शक विचारों को रेखांकित किया जा सकता है?

1.4 अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं:

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के प्रमुख शैक्षिक विचारों में से भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए चयनित मार्गदर्शक विचारों को रेखांकित करना।

1.5 शोध विधि

प्रस्तुत शोध गुणात्मक प्रकार का है। इस शोध में विषयवस्तु विश्लेषण का प्रयोग किया गया है।

1.5 अध्ययन के परिणाम

1.5.1 समग्र व्यक्तित्व विकास

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचारों में समग्र व्यक्तित्व विकास एक केंद्रीय अवधारणा के रूप में उभरकर सामने आती है। उनके अनुसार, शिक्षा का लक्ष्य केवल बौद्धिक ज्ञान या व्यावसायिक दक्षता तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि यह मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक आयामों के संतुलित विकास को सुनिश्चित करने वाला होना चाहिए।

1.5.1.1 भविष्य की शिक्षा नीतियों में प्रासंगिकता

समकालीन शिक्षा व्यवस्था में अक्सर यह देखा जाता है कि विद्यार्थियों का मूल्यांकन केवल अंकों और उपलब्धियों के आधार पर किया जाता है, जिससे शिक्षा का मानवीय पक्ष कमजोर हो जाता है। उपाध्याय जी के अनुसार यह दृष्टिकोण शिक्षा को अधूरा बना देता है, क्योंकि व्यक्ति का विकास तभी पूर्ण माना जा सकता है जब उसके भीतर विचारशीलता, संवेदनशीलता और नैतिकता का संतुलन स्थापित हो। भविष्य की शिक्षा नीतियों में यदि समग्र व्यक्तित्व विकास को केंद्र में रखा जाए, तो शिक्षा केवल प्रतिस्पर्धा का माध्यम न रहकर आत्म-विकास और सामाजिक निर्माण का साधन बन सकती है।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली में बढ़ते तनाव, परीक्षा-चिंता और डिजिटल निर्भरता ने विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित किया है। भविष्य की शिक्षा नीतियों में यदि योग, खेल, कला और जीवन-कौशल आधारित गतिविधियों को पाठ्यक्रम का अनिवार्य हिस्सा बनाया जाए, तो विद्यार्थियों का समग्र विकास संभव हो सकता है। इस प्रकार उपाध्याय जी की अवधारणा आज के समय में मानसिक स्वास्थ्य और जीवन-प्रबंधन कौशल के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक बन जाती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समग्र व्यक्तित्व विकास की अवधारणा भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह शिक्षा को बहुआयामी और संतुलित बनाती है। वर्तमान समय में शिक्षा को तकनीकी कौशल, वैश्विक प्रतिस्पर्धा और डिजिटल साक्षरता से जोड़ने की आवश्यकता है, परंतु इसके साथ मानवीय मूल्यों और सांस्कृतिक आधार को भी बनाए रखना जरूरी है। उपाध्याय जी के विचार इस संतुलन को स्थापित करने में सहायक हो सकते हैं। यदि भविष्य की शिक्षा नीतियाँ समग्र विकास पर आधारित होंगी, तो शिक्षा व्यवस्था में निम्नलिखित परिवर्तन संभव हो सकते हैं–

- मूल्य-आधारित और अनुभवात्मक शिक्षण का विस्तार;
- विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य और जीवन-कौशल पर विशेष ध्यान;
- बहुभाषिक और सांस्कृतिक रूप से संवेदनशील पाठ्यक्रम; तथा
- नवाचार और आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देने वाली शिक्षण पद्धतियाँ

इसलिए भविष्य की शिक्षा नीतियों में समग्र विकास की अवधारणा को एक आधारभूत मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में अपनाना अत्यंत आवश्यक है।

1.5.2 शिक्षा का भारतीयकरण एवं सांस्कृतिक आधार

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचारों में शिक्षा का भारतीयकरण एक महत्वपूर्ण आयाम के रूप में उपस्थित है। उनके अनुसार शिक्षा केवल ज्ञान-प्रदान की प्रक्रिया नहीं, बल्कि समाज की सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय पहचान और जीवन-दर्शन का संवाहक माध्यम है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि यदि शिक्षा अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कट जाती है, तो वह केवल सूचना और कौशल तक सीमित होकर रह जाती है और समाज के समग्र विकास में अपनी भूमिका को पूरी तरह निभा नहीं पाती।

1.5.2.1 भविष्य की शिक्षा नीतियों में प्रासंगिकता

भविष्य की शिक्षा नीतियों में यह दृष्टिकोण इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि आज का वैश्विक वातावरण शिक्षा को अत्यधिक पाश्चात्य मॉडल की ओर ले जा रहा है। ऐसे में भारतीयकरण का विचार शिक्षा को स्थानीय संदर्भों और सांस्कृतिक वास्तविकताओं से जोड़ने में सहायक हो सकता है।

आज के समय में जब समाज में मूल्य-संकट और सामाजिक तनाव बढ़ रहे हैं, तब शिक्षा में सांस्कृतिक मूल्यों का समावेश विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को संतुलित बनाने में सहायक हो सकता है। उपाध्याय जी का दृष्टिकोण शिक्षा को नैतिकता और सामाजिक संवेदनशीलता से जोड़कर उसे अधिक मानवीय बनाने की दिशा में प्रेरित करता है। भविष्य की शिक्षा नीतियों में यह विचार इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे शिक्षा अधिक प्रासंगिक और व्यवहारिक बन सकती है। जब विद्यार्थी अपने आसपास के समाज और संस्कृति से जुड़कर सीखते हैं, तो उनके भीतर सीखने की रुचि और समझ दोनों बढ़ती हैं। यह दृष्टिकोण ग्रामीण और शहरी शिक्षा के बीच की दूरी को भी कम कर सकता है। इसके साथ ही, स्थानीय समुदाय की भागीदारी से शिक्षा प्रणाली अधिक लोकतांत्रिक और सहभागी बनती है। विद्यालय केवल ज्ञान देने वाली संस्था न रहकर समाज के सांस्कृतिक केंद्र के रूप में विकसित हो सकते हैं।

इस प्रकार, शिक्षा का भारतीयकरण और सांस्कृतिक आधार भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए निम्नलिखित स्तरों पर उपयोगी सिद्ध हो सकता है–

- शिक्षा को स्थानीय संदर्भों और समाज की वास्तविक आवश्यकताओं से जोड़ना;
- भारतीय भाषाओं और सांस्कृतिक विरासत के माध्यम से सीखने को अधिक सहज बनाना;
- नैतिक और मानवीय मूल्यों को शिक्षा में पुनर्स्थापित करना; तथा
- वैश्विक ज्ञान और भारतीय परंपरा के बीच संतुलन स्थापित करना

यदि भविष्य की शिक्षा नीतियाँ इस दृष्टिकोण को अपनाती हैं, तो शिक्षा केवल आर्थिक विकास का साधन न रहकर सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन का माध्यम भी बन सकती है। इसलिए भविष्य की शिक्षा नीतियों में भारतीयकरण और सांस्कृतिक आधार को शामिल करना एक आवश्यक वैचारिक दिशा के रूप में देखा जा सकता है।

1.5.3 चरित्र निर्माण और नैतिक शिक्षा

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक चिंतन में चरित्र निर्माण और नैतिक शिक्षा को शिक्षा का मूल उद्देश्य माना गया है। उनके अनुसार शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य केवल ज्ञान, कौशल या रोजगार प्राप्ति नहीं, बल्कि ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण है जो नैतिक मूल्यों, सामाजिक उत्तरदायित्व और राष्ट्रीय चेतना से परिपूर्ण हो। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह विचार रखा कि यदि शिक्षा केवल आर्थिक या तकनीकी दक्षता तक सीमित हो जाए, तो वह समाज के नैतिक आधार को कमजोर कर सकती है।

1.5.3.1 भविष्य की शिक्षा नीतियों में प्रासंगिकता

भविष्य की शिक्षा नीतियों में यह दृष्टिकोण इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वर्तमान समय में समाज अनेक नैतिक चुनौतियों का सामना कर रहा है–जैसे भ्रष्टाचार, सामाजिक असमानता और मूल्य-संकट। चरित्र निर्माण पर आधारित शिक्षा इन समस्याओं के समाधान की दिशा में एक सकारात्मक कदम हो सकती है।

समकालीन शिक्षा नीतियों में जब जीवन-कौशल, सामाजिक-भावनात्मक शिक्षा और नागरिकता शिक्षा जैसे विषयों पर जोर दिया जा रहा है, तब उपाध्याय जी की नैतिक शिक्षा की अवधारणा अत्यंत प्रासंगिक बन जाती है। यह शिक्षा को केवल सूचना-आधारित प्रक्रिया से आगे बढ़ाकर मानव-केंद्रित बनाती है।

अतः, यह कहा जा सकता है कि चरित्र निर्माण और नैतिक शिक्षा की अवधारणा भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए कई स्तरों पर उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यथा –

- शिक्षा को मानव-केंद्रित और मूल्य-आधारित बनाना;
- विद्यार्थियों में सामाजिक जिम्मेदारी और नागरिकता की भावना विकसित करना;
- डिजिटल और वैश्विक युग की नैतिक चुनौतियों से निपटने के लिए तैयार करना; तथा
- शिक्षा को केवल आर्थिक विकास तक सीमित न रखकर सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बनाना;

इसलिए भविष्य की शिक्षा नीतियों में चरित्र निर्माण और नैतिक शिक्षा को केंद्रीय स्थान देना अत्यंत आवश्यक है।

1.5.4 विकेंद्रीकरण और स्थानीय आवश्यकताओं पर आधारित शिक्षा

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचारों में विकेंद्रीकरण और स्थानीय आवश्यकताओं पर आधारित शिक्षा एक महत्वपूर्ण सिद्धांत के रूप में उभरता है। उनके अनुसार शिक्षा प्रणाली तभी प्रभावी और समाजोपयोगी बन सकती है जब वह स्थानीय समाज, संस्कृति, भाषा और आर्थिक परिस्थितियों से जुड़ी हो। उन्होंने शिक्षा को केवल केंद्रीकृत प्रशासनिक ढाँचे के भीतर सीमित रखने के बजाय समाज-आधारित और सहभागी प्रक्रिया के रूप में देखने पर बल दिया।

1.5.4.1 भविष्य की शिक्षा नीतियों में प्रासंगिकता

भविष्य की शिक्षा नीतियों के संदर्भ में यह विचार अत्यंत प्रासंगिक है क्योंकि भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में एकरूप नीति सभी क्षेत्रों की आवश्यकताओं को समान रूप से पूरा नहीं कर सकती। भविष्य की शिक्षा नीतियों में यह दृष्टिकोण इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि वर्तमान समय में शिक्षा सुधारों का एक प्रमुख लक्ष्य 'स्थानीय स्वायत्तता' और 'संस्थागत लचीलापन' को बढ़ावा देना है। इससे विद्यालय और शिक्षक अपनी परिस्थितियों के अनुसार नवाचार कर सकते हैं।

भविष्य की शिक्षा नीतियों में यदि पाठ्यक्रम का एक हिस्सा स्थानीय स्तर पर विकसित करने की स्वतंत्रता दी जाए, तो शिक्षा अधिक जीवनोपयोगी और अनुभवात्मक बन सकती है। इससे विद्यार्थी अपने आसपास के समाज और वास्तविक समस्याओं से जुड़कर सीखेंगे, जो समग्र विकास के लिए आवश्यक है।

भविष्य की शिक्षा नीतियों में यह दृष्टिकोण इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि शिक्षा तेजी से बदलते सामाजिक और तकनीकी परिवेश के अनुरूप ढल रही है।

भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए यह संतुलन अत्यंत महत्वपूर्ण है। एक ओर राष्ट्रीय स्तर पर गुणवत्ता और समान अवसर सुनिश्चित करना आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर स्थानीय संदर्भों को भी सम्मान देना चाहिए। यह संतुलन शिक्षा को न केवल समावेशी बनाता है, बल्कि विद्यार्थियों में स्थानीय पहचान और राष्ट्रीय चेतना दोनों को मजबूत करता है।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि विकेंद्रीकरण और स्थानीय आवश्यकताओं पर आधारित शिक्षा भविष्य की नीतियों के लिए निम्नलिखित स्तरों पर उपयोगी सिद्ध हो सकती है :

- शिक्षा को अधिक लचीला और संदर्भ-संवेदनशील बनाना;
- स्थानीय समुदाय और विद्यालयों के बीच मजबूत संबंध स्थापित करना;
- नवाचार और प्रयोगधर्मिता को बढ़ावा देना; तथा
- शिक्षा में समावेशन और क्षेत्रीय संतुलन को सुनिश्चित करना

यह दृष्टिकोण शिक्षा प्रणाली को केवल प्रशासनिक संरचना न बनाकर सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बना सकता है। इसलिए भविष्य की शिक्षा नीतियों में विकेंद्रीकरण और स्थानीय आवश्यकताओं पर आधारित शिक्षा की अवधारणा को स्थान देना अत्यंत आवश्यक है।

1.5.5 स्वावलंबन एवं व्यावसायिक शिक्षा का संतुलन

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक चिंतन में स्वावलंबन और व्यावसायिक शिक्षा के बीच संतुलन को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उनके अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजगार प्राप्ति तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि यह व्यक्ति को आत्मनिर्भर, रचनात्मक और समाजोपयोगी बनने की दिशा में प्रेरित करे। उन्होंने शिक्षा को ऐसा माध्यम माना जो व्यक्ति की क्षमताओं का विकास करते हुए उसे आर्थिक रूप से सक्षम बनाए, किंतु साथ ही मानवीय मूल्यों और सामाजिक जिम्मेदारी से भी जोड़कर रखे। भविष्य की शिक्षा नीतियों के संदर्भ में यह विचार विशेष रूप से प्रासंगिक है, क्योंकि आज की शिक्षा व्यवस्था को कौशल विकास, उद्यमिता और वैश्विक प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ मानवीय और नैतिक दृष्टि को भी संतुलित करना आवश्यक है।

1.5.5.1 भविष्य की शिक्षा नीतियों में प्रासंगिकता

भविष्य की शिक्षा नीतियों में यह दृष्टिकोण इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि तेजी से बदलते रोजगार बाजार में केवल पारंपरिक डिग्रियाँ पर्याप्त नहीं हैं। विद्यार्थियों को ऐसे कौशलों से लैस करना आवश्यक है जो उन्हें बदलती परिस्थितियों में स्वयं अवसर बनाने के लिए प्रेरित करें।

आज के समय में जब तकनीकी शिक्षा, स्टार्टअप संस्कृति और उद्यमिता को बढ़ावा दिया जा रहा है, तब यह विचार विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है। भविष्य की शिक्षा नीतियों में व्यावसायिक शिक्षा को मुख्यधारा के पाठ्यक्रम से जोड़ते हुए यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि विद्यार्थियों का समग्र विकास भी हो।

भविष्य की शिक्षा नीतियों में यह दृष्टिकोण ग्रामीण और अर्ध-शहरी क्षेत्रों के लिए विशेष रूप से उपयोगी हो सकता है, जहाँ शिक्षा को स्थानीय अर्थव्यवस्था से जोड़ना आवश्यक है। इससे शिक्षा केवल शहरी रोजगार तक सीमित न रहकर व्यापक सामाजिक विकास का माध्यम बन सकती है।

इस प्रकार, स्वावलंबन और व्यावसायिक शिक्षा के बीच संतुलन भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए निम्नलिखित कारणों से आवश्यक है–

- शिक्षा को रोजगार-केंद्रित बनाने के साथ-साथ मानवीय मूल्यों से जोड़ना;
- कौशल विकास और उद्यमिता को बढ़ावा देते हुए बौद्धिक और नैतिक विकास को बनाए रखना;
- शिक्षा को स्थानीय अर्थव्यवस्था और समाज की वास्तविक आवश्यकताओं से जोड़ना; तथा
- विद्यार्थियों को आत्मनिर्भर और जिम्मेदार नागरिक बनने के लिए तैयार करना।

यदि शिक्षा नीतियाँ इस संतुलन को अपनाती हैं, तो शिक्षा प्रणाली अधिक लचीली, प्रासंगिक और भविष्य उन्मुख बन सकती है।

1.5.6 सामाजिक समरसता और समान अवसर

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक चिंतन में सामाजिक समरसता और समान अवसर की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। उनके अनुसार, शिक्षा केवल व्यक्तिगत उन्नति का साधन नहीं, बल्कि समाज में संतुलन, एकता और न्याय स्थापित करने का माध्यम भी है। उन्होंने एकात्म मानववाद के सिद्धांत के अंतर्गत यह विचार प्रस्तुत किया कि शिक्षा व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो समाज के सभी वर्गों को समान अवसर प्रदान करे और सामाजिक विभाजनों को कम करते हुए समरसता की भावना को मजबूत बनाए। भविष्य की शिक्षा नीतियों के संदर्भ में यह दृष्टिकोण विशेष रूप से प्रासंगिक है, क्योंकि आज भी शिक्षा में आर्थिक, भाषायी और सामाजिक असमानताएँ विद्यमान हैं।

1.5.6.1 भविष्य की शिक्षा नीतियों में प्रासंगिकता

भविष्य की शिक्षा नीतियों में यह दृष्टिकोण विद्यार्थियों को विविधता में एकता का अनुभव कराते हुए लोकतांत्रिक मूल्यों को मजबूत कर सकता है।

भविष्य की शिक्षा नीतियों में समान अवसर का अर्थ केवल विद्यालयों की संख्या बढ़ाना नहीं है, बल्कि शिक्षा की गुणवत्ता, संसाधनों की उपलब्धता और सीखने के अवसरों में भी समानता सुनिश्चित करना है। इसमें निम्नलिखित पहलू शामिल हो सकते हैं–

- आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए समावेशी नीतियाँ;
- ग्रामीण और दूरस्थ क्षेत्रों में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की उपलब्धता; तथा
- दिव्यांग विद्यार्थियों और भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए विशेष समर्थन।

यह दृष्टिकोण शिक्षा को अधिक लोकतांत्रिक और न्यायसंगत बनाने में सहायक हो सकता है।

आज के संदर्भ में जब शिक्षा में डिजिटल विभाजन, आर्थिक विषमता और क्षेत्रीय अंतर जैसी चुनौतियाँ सामने हैं, तब सामाजिक न्याय आधारित शिक्षा नीति की आवश्यकता और अधिक महसूस होती है। भविष्य की शिक्षा नीतियाँ यदि समावेशन और समान अवसर पर आधारित होंगी, तो शिक्षा समाज के सभी वर्गों के लिए सुलभ और प्रभावी बन सकती है।

भविष्य की शिक्षा नीतियों में यह संतुलन अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि वैश्वीकरण के दौर में विद्यार्थियों को वैश्विक दृष्टि के साथ-साथ अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक पहचान को भी समझना होगा। शिक्षा में यदि सांस्कृतिक विविधता और सामाजिक समरसता को स्थान दिया जाए, तो यह समाज में सहयोग और सामूहिकता की भावना को मजबूत कर सकता है।

भविष्य की शिक्षा नीतियों में समावेशी शिक्षण को बढ़ावा देने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाए जा सकते हैं–

- सहयोगात्मक और परियोजना-आधारित शिक्षण पद्धतियाँ;
- बहुभाषिक कक्षा वातावरण; तथा
- मूल्य-आधारित गतिविधियाँ और सामाजिक सेवा कार्यक्रम।

इस प्रकार विद्यालय केवल शिक्षा का केंद्र न रहकर सामाजिक समरसता के प्रयोगशाला के रूप में विकसित हो सकते हैं। सामाजिक समरसता और समान अवसर की अवधारणा भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए निम्नलिखित स्तरों पर उपयोगी सिद्ध हो सकती है–

- शिक्षा में समावेशन और समानता को बढ़ावा देना;
- सामाजिक विभाजनों को कम करते हुए सहयोगात्मक समाज का निर्माण करना;
- विद्यार्थियों में लोकतांत्रिक और मानवीय मूल्यों का विकास करना;
- शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्र-निर्माण का माध्यम बनाना।

यदि भविष्य की शिक्षा नीतियाँ इस दृष्टिकोण को अपनाती हैं, तो शिक्षा प्रणाली अधिक न्यायसंगत, समावेशी और समाजोपयोगी बन सकती है।

1.6 निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचार को भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए मार्गदर्शक बन सकने के कारणों पर पर्याप्त रौशनी डालते हैं। उपाध्याय जी के विचार समग्रता, भारतीयता, नैतिकता, विकेंद्रीकरण और आत्मनिर्भरता जैसे मूलभूत सिद्धांतों पर आधारित हैं। आज की शिक्षा व्यवस्था तकनीकी रूप से उन्नत होने के बावजूद कई बार मूल्य और सामाजिक संदर्भों से दूर हो जाती है। उपाध्याय जी की दृष्टि इन दोनों के बीच संतुलन स्थापित करने का मार्ग प्रदान करती है, जहाँ आधुनिकता और परंपरा साथ-साथ चलें। अतः, यह कहा जा सकता है कि पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचार भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए एक व्यापक और संतुलित वैचारिक ढाँचा प्रस्तुत करते हैं। उनकी शिक्षा-दृष्टि आधुनिकता और परंपरा, वैश्विकता और भारतीयता, कौशल और नैतिकता के बीच संतुलन स्थापित करने की दिशा में मार्गदर्शन देती है। भविष्य की शिक्षा व्यवस्था यदि इन सिद्धांतों को अपनाती है, तो वह केवल ज्ञान और रोजगार तक सीमित न रहकर समाज में नैतिकता, समरसता और राष्ट्रीय चेतना को मजबूत करने का माध्यम बन सकती है। इस प्रकार उपाध्याय जी के शैक्षिक विचार शिक्षा को अधिक जीवनोन्मुख, मानव-केंद्रित और राष्ट्रनिर्माण उन्मुख बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण मार्गदर्शक सिद्धांत प्रदान करते हैं।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचार भविष्य की शिक्षा नीतियों के लिए एक संतुलित और व्यापक वैचारिक ढाँचा प्रस्तुत करते हैं।

1.7 शोध की सीमाएँ

इस शोध अध्ययन की निम्नलिखित सीमाएँ हैं:

1. अध्ययन मुख्यतः दस्तावेज़ीय विश्लेषण पर आधारित होगा;
2. अनुभवजन्य सर्वेक्षण या सांख्यिकीय डेटा शामिल नहीं होगा; तथा
3. शोध का केंद्र वैचारिक और नीतिगत विश्लेषण तक सीमित रहेगा।

संदर्भग्रंथ

उपाध्याय, दीनदयाल. (2016). *दीनदयाल उपाध्याय समग्र (खंड-1-15),* नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन.

ऐथल, पी. एस., एवं ऐथल, एस. (2020). *एनालिसिस ऑफ द इंडियन नेशनल एजुकेशन पॉलिसी 2020 टुवर्ड्स अचीविंग इट्स ऑब्जेक्टिव्स.* इंटरनेशनल जर्नल ऑफ मैनेजमेंट, टेक्नोलॉजी एंड सोशल साइंसेज़।

कुलकर्णी, श० अ० (2014). पंडित दीनदयाल विचार दर्शन *(खंड - 4),* एकात्म अर्थनीति, (अनुवाद - मोटेश्वर तपस्वी), नई दिल्ली: सुरुचि प्रकाशन .

गुप्ता, एस० वी० (2015). *दीनदयाल जी और उनका चिंतन.* कानपुर: ऋतंभरा प्रकाशन, पृ० 71-73.

चोपड़ा, आर., एवं पांडेय, एस. (2023). *नेशनल एजुकेशन पॉलिसी 2020: प्रॉमिसेस एंड प्रॉस्पेक्ट्स फॉर हायर एजुकेशन इन इंडिया.* शोधकोश जर्नल।

भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय. (2020). *राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020,* नई दिल्ली: भारत सरकार.

येनुगु, एस. (2022). *द न्यू नेशनल एजुकेशन पॉलिसी ऑफ इंडिया: विल इट बी सक्सेसफुल?* इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इन्क्लूसिव एजुकेशन।

रमानी, पी. (2025). *दीन दयाल उपाध्यायाज़ विज़न फ़ॉर एन इंडिजिनस एजुकेशन सिस्टम.* एनआईजे रिसर्च जर्नल।

शर्मा, ए. (2025). *रिलेवेंस ऑफ दीनदयाल उपाध्यायाज़ एजुकेशनल आइडियाज़ इन एनईपी 2020.* रिसर्चगेट पब्लिकेशन।

सिंह, फकीर (2018). पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के एकात्म मानव दर्शन , शिक्षा एवं शिक्षक, स्वरांजलि पब्लिकेशन, पृ० 132-136.

आधुनिक वैश्विक परिप्रेक्ष्य में गांधी का सत्याग्रहः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

रवि कुमार*

शोध सारांश-

आज विश्व एक विचित्र चौराहे पर खड़ा है। राजनीति से लोगों का मन ऊब-सा गया है। धार्मिक उन्माद और जातीय संघर्ष इतने बढ़ चुके हैं कि आज सारे संसार में तबाही मची हुई है। मनुष्य न केवल समुद्र और आकाश में ही विचरण कर सकता है, प्रत्युत उसने अंतरिक्ष को भी अपनी सीमाओं में बांध लिया है। मनुष्य की इस आशातीत वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक उन्नति ही उसके लिए सबसे बड़ी समस्या बन गई है। यदि मनुष्य केवल बाहरी प्रकृति के नियंत्रण में ही लगा रहता है और स्वयं अपने ऊपर नियंत्रण रखने का प्रयास नहीं करता है तो उसका भविष्य निश्चित रूप से अंधकारमय है। महात्मा गांधी ने आज से 94 वर्ष पूर्व ही इस संकट का आभास प्राप्त कर लिया था। और 1908 में अपनी पुस्तक हिन्द स्वराज में आधुनिक सभ्यता को 'एक रोग और तीन दिन का तमाशा' बताया था क्योंकि, यह सभ्यता न तो धर्म का विचार करती है और न आचरण पर ही ध्यान देती है। उस समय महात्मा गांधी की इस चेतावनी को भूल से राजनीति में आ भटकने वाले एक पूर्वीय साधु के धार्मिक उद्गार के रूप में ही देखा गया था। लेकिन आज इस आणविक युग में उनकी वह चेतावनी सच होती दिखाई देती है। यदि मनुष्य अपनी वर्तमान जीवन-पद्धति, शासन-संस्थाओं, सामाजिक संगठन, आर्थिक रूपों और नैतिक मूल्यों में आमूल परिवर्तन नहीं करते हैं तो इस बात की प्रबल संभावना है कि भूतकाल की अनेक सभ्यताओं की भांति कहीं हमारी सभ्यता भी युगों की धूल के नीचे न दब जाये। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य महात्मा गांधी के सत्याग्रह और वर्तमान में इसकी प्रासंगिकता के विभिन्न पहलुवों को लेखबद्ध करना है। इस शोध-पत्र में गुणात्मक एवं विश्लेषणात्मक अनुसंधान पद्धति का उपयोग किया गया है। अध्ययन मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है, जिनमें महात्मा गांधी के मूल ग्रंथ, पत्र, भाषण, तथा उनके विचारों पर आधारित समकालीन एवं आधुनिक विद्वानों के लेख, शोध-पत्र, पुस्तकें सम्मिलित हैं।

शब्द कुंजी – धार्मिक, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक, हिन्द स्वराज, आणविक युग

प्रस्तावना

सत्याग्रह मानवता का जीवन रक्त है जो समकालीन विश्व में मनुष्य के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तनाव के लिए उपचार प्रदान करता है। आज वर्तमान परिस्थितियों में जब सांस्कृतिक, धार्मिक एवं भौतिकता का चक्र बिगड़ता जा रहा है, धर्म एवं जाति तथा क्षेत्र के नाम पर हिंसा का ताण्डव हो रहा है और सम्पूर्ण विश्व में महाशक्ति बनने की होड़ में मानवता को त्याग कर हिंसक हथियारों के भण्डार भरे जा रहे हैं ऐसे हिंसा एवं आतंकवाद के वातावरण में सत्याग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज के युग में भ्रष्टाचार एवं आतंकवाद व्यक्ति को पीड़ित न करें तो सत्याग्रह की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी, किन्तु यह स्थिति सम्भव नहीं है। अतः वर्तमान समय में सत्याग्रह का महत्व कम नहीं किया जा सकता। यह राष्ट्र को अन्याय और हिंसा से लड़ने की शक्ति प्रदान करता है, त्याग, आत्मानुशासन और सृजनात्मकता की शिक्षा देता है जिससे जनता को अन्याय एवं हिंसा से लड़ने तथा देश के नवनिर्माण में जुटने की शक्ति प्राप्त होती है। आज देश में जिस सत्याग्रह पद्धति को अपनाया जा रहा है उसमें सत्य का तत्त्व कम और आग्रह का प्रभाव अधिक रहता है जिससे देश के विभिन्न भागों में हो रहे छोटे-मोटे सत्याग्रहों में हिंसा का समावेश हो जाता है। इस प्रकार आज का सत्याग्रह सत+आग्रह की पद्धति कम तथा दुराग्रह की पद्धति अधिक बन गया है। इसी का दुष्परिणाम यह हुआ कि आज गांधीजी का सत्याग्रह अपना महत्व और वास्तविक स्वरूप खोता जा रहा है।

सत्याग्रह का अर्थ एवं स्वरूप

सत्याग्रह संस्कृत भाषा के दो शब्दों सत+आग्रह की सन्धि से बना हैं।[1] जिसका शाब्दिक अर्थ है-सत्य के लिए आग्रह करना, सत्य पर अड़े रहना अथवा सत्य का अनुसरण करना।[2] दूसरी तरफ नकारात्मक रूप से सत्याग्रह का अर्थ है-असत्य एवं अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना।[3] इस प्रकार सत्याग्रह असत्य और अन्याय के विरुद्ध आन्दोलन तथा संघर्ष का नाम है। प्रचलित भाषा में सत्याग्रह का अर्थ अहिंसात्मक प्रतिरोध से किया जाता है, लेकिन सत्याग्रह केवल अहिंसक प्रतिरोध के विभिन्न रूपों असहयोग, सविनय अवज्ञा, उपवास, धरना आदि तक ही सीमित नहीं है। सत्याग्रह अहिंसात्मक प्रतिरोधों से कही अधिक व्यापक है। इसका व्यापक अर्थ है सत्य, जिसमें

* शोध छात्र, विभाग – गांधी एवं शांति अध्ययन, महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बिहार
मोबाइल न० – 8804635927, Email id ravikumargupta184@gmail.com

अहिंसा भी शामिल है सत्य और अहिंसा को मानकर किसी वस्तु के लिए आग्रह करना अथवा सत्य और अहिंसा से उत्पन्न होने वाला बल ही सत्याग्रह है। सर्वोच्च सत्य है आध्यात्मिक एकता और उसकी प्राप्ति का एकमात्र मार्ग। अहिंसक होने का अर्थ है कि सबसे प्रेम करना और सबके लिए कष्ट सहना। अहिंसक साधनों के द्वारा ही सत्य की शक्ति को सर्वाधिक रूप से सक्रिय किया जा सकता है। एक अहिंसक कार्य पद्धति के रूप में सत्याग्रह का सीधा-सा अर्थ है-ऐसा दृष्टिकोण जिसमें सबके प्रति जाग्रत प्रेम और सबके लिए कष्ट सहने की तत्परता व्यक्ति की प्रेरणा बन जाए। इस प्रकार सत्याग्रह को आत्म-बल अथवा प्रेम बल का नाम दिया जा सकता है। सत्याग्रह सत्य के लिए तपस्या है और इस व्यापक अर्थ में इसके अन्तर्गत सब विधेयक सुधारों तथा सर्वाधिक सेवा के कार्य का समावेश हो जाता है। इस अर्थ में सत्याग्रह संविधानिक पद्धति का निराकरण नहीं करता। सत्याग्रह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, यह अधिकार ही नहीं अपितु पवित्र कर्त्तव्य भी है।[4] यदि सरकार जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती और बेईमानी तथा आतंकवाद का समर्थन करने लगती है तो उसकी अवज्ञा करना आवश्यक हो जाता है उसे सब प्रकार के कष्ट सहने के लिए तैयार रहना चाहिए।[5] इस प्रकार जिसे हम सत्य कहते हैं उसे मृत्युपर्यन्त नहीं छोड़ना चाहिए। सत्य के लिए चाहे जितनी तकलीफें उठानी पड़े, सब उठानी चाहिए। परन्तु किसी दूसरे को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए, क्योंकि कष्ट पहुँचाने से सत्य का उल्लंघन होता है।[6] और इससे सत्याग्रह का मूल अर्थ समाप्त हो जाता है।

गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह का सिद्धान्त अधिक व्यापक और सार्वभौम महत्व का है। उनके अनुसार परिवार से लेकर राज्य तक मनुष्य को जहाँ कहीं भी अन्याय तथा असत्य का सामना करना पड़े, वहां सत्याग्रह का प्रयोग किया जा सकता है। गाँधीजी को स्वयं अपने पारिवारिक जीवन में सत्याग्रह के कुछ मधुर अनुभव हुए थे, जिनका उन्होंने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया।[7] गाँधीजी मानते थे कि सत्याग्रह एकमात्र अस्त्र है जिससे बुराई और अन्याय का प्रतिरोध सम्भव है। यह एक साफ सुथरा, हानिरहित और अत्यधिक प्रभावशाली अस्त्र है। यह न केवल अन्याय और बुराई के प्रतीक का अस्त्र है, बल्कि एक जीवन पद्धति भी है। जीवन की अनेकता में जो एकता होती है, सत्याग्रह उसमें सम्पूर्ण आस्था रखता है। सामाजिक जीवन में सत्याग्रह की वही महत्त्वपूर्ण भूमिका है जो व्यक्तिगत जीवन में है। सामाजिक कुरीतियों के निराकरण में सत्याग्रह सर्वाधिक प्रभावशाली अस्त्र है।[8] गाँधीजी के मत में सत्याग्रह पवित्र उद्देश्यों की अहिंसक साधनों से प्राप्ति का अविरल मानवीय अध्यवसाय है। इस प्रकार सत्याग्रह का मर्म, सत्य के प्रति आस्था तथा प्रेम की रचनात्मक और क्रियात्मक शक्ति के प्रति निष्ठा में निहित है। गाँधीजी का कथन है कि सत्य और अहिंसा वह तना है जिस पर सत्याग्रह की असंख्य शाखाएँ पुष्पित और पल्लवित होती हैं।[9] प्रेम की शक्ति को जागृत करने वाले विज्ञान के रूप में सत्याग्रह, सत्य के प्रति समर्पित प्रेम का ही दूसरा नाम है। गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रह एक ऐसा सिक्का है जिसमें एक ओर प्रेम और दूसरी ओर सत्य अंकित है।[10] सत्याग्रह अपनी सक्रियता के लिए विरोधी की सम्मति पर निर्भर नहीं करता। वह अपनी आत्मा की शक्ति के आधार पर क्रियाशील रहता है। अतः सत्याग्रही के मन में आत्मा की अमरता के प्रति पूर्ण विश्वास होता है और शरीर को केवल आत्म साक्षात्कार का एक माध्यम मानता है तथा जब से यह लगता है कि उसका शरीर उसके विरोधी को सत्य का ज्ञान होने देने के मार्ग में बाधा उपस्थित कर रहा है तो वह अपने प्राणों को त्यागने में तनिक भी नहीं झिझकता है और सत्याग्रही इस बात के लिए भी अपने मन में लालसा नहीं रखता कि वह अपने भौतिक शरीर को धारण करते हुए ही सत्य की विजय का अनुभव करे। वह अन्ततः सत्य की विजय के प्रति आश्वस्त रहकर अपने भौतिक हितों की चिन्ता से पूरी तरह मुक्त होकर न्याय और सत्य के लिए संघर्ष में जुट जाता है। इस प्रकार सत्याग्रही की विजय का रहस्य विरोधी को सत्य का ज्ञान कराने के प्रयास में, प्राणों का भी त्याग कर सकने की सत्याग्रही की क्षमता में निहित रहता है। गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रह का अभिप्राय-सत्य व न्याय के रास्ते पर चलने तथा असत्य व अन्याय के विरुद्ध संघर्ष से है।[11] उनके अनुसार, "सत्याग्रह अन्याय के विरुद्ध एक ऐसा अहिंसक संघर्ष है जिसमें मन, वचन तथा कर्म से हिंसा का त्याग करके, अहिंसा को एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है, जिसमें ऐसे साधनों को अपनाया जाता है जो नैतिक, उचित तथा साध्य के अनुरूप हो तथा जिनके द्वारा संघर्ष का निशाना अन्याय को बनाया जाता है, अन्याय करने वाले को नहीं"।[12]

चम्पारण सत्याग्रह

चम्पारण सत्याग्रह जहां एक ओर गांधीजी के जीवन का बोझिल सत्य है, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीय जागरण का लक्ष्य बिन्दु है जिसने 30 वर्षों बाद आजादी का रूप ग्रहण किया। दक्षिण अफ्रीका से विशाल अनुभव तथा परिपक्वता लेकर 22 वर्षों बाद जब गांधीजी 1915 में भारत लौटे तो उन्होंने यहां की धरती पर पहला सत्याग्रह प्रयोग चम्पारण में ही किया, जिसने चम्पारण और गांधीजी को पूरे विश्व में चर्चित बना दिया। गांधीजी ने इस आन्दोलन के माध्यम से सत्य, अहिंसा की ताकत क्या है और अशिक्षित तथा निरक्षर जनता के सहारे क्या कुछ किया जा सकता है, यह सारी दुनिया को दिखा दिया। इन सभी हथियारों का विश्लेषण ही चम्पारण सत्याग्रह का मूलमंत्र था। चम्पारण के विषय में अपनी आत्मकथा में गांधीजी ने स्वयं लिखा है कि, बिहार ने ही मुझे सारे हिन्दुस्तान में जाहिर किया। उससे पहले तो मुझे कोई जानता भी न था। बीस साल अफ्रीका में रहने के कारण मैं हब्शी-सा बन गया था। उसके बाद मैं चम्पारण आया और सारा

हिन्दुस्तान जाग उठा। पहले मैं जानता भी न था कि चम्पारण कहां है, लेकिन जब यहां आया तो मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मैं बिहार के लोगों को सदियों से जानता था और वे भी मुझे पहचानते थे।

अहमदाबाद मिल मालिक-मजदूर आन्दोलन

अभी चम्पारण का काम पूरा भी नहीं हुआ था कि अहमदाबाद में एक गम्भीर समस्या खड़ी हो गई। जिसमें कपड़ा मिल मजदूरों में बोनस के प्रश्न पर असन्तोष फैल गया मिल मालिकों के प्रतिनिधि सेठ अम्बालाल साराभाई ने बम्बई में गांधीजी को सारा प्रकरण समझाया कि अब मिल मालिक तालाबन्दी करने वाले हैं जिससे व्यर्थ में बर्बादी होगी और हजारों मजदूरों को क्षति पहुंचेगी तथा शहर में भी अशान्ति फैलेगी।

खेड़ा सत्याग्रह

अहमदाबाद में मजदूरों की हडताल समाप्त हुई ही थी कि खेड़ा सत्याग्रह का संघर्ष आरम्भ हो गया जो 15 दिसम्बर 1917 से 6 जून 1918 तक सक्रिय रूप से चला। सन् 1917 की अतिवृष्टि और 1918 की अनावृष्टि तथा चूहों के कारण फैले प्लेग की वजह से बम्बई का खेड़ा नामक जिला भयंकर संकट में था। अतः यहां के किसान अपनी फसलें एकदम से नष्ट होने की वजह से लगान देने में असमर्थ थे। अतः सरकार को इन कारणों को ध्यान में रखते हुए कानून के अनुसार इनके लगान माफ करने चाहिए थे, क्योंकि कानून में ऐसा प्रावधान था कि यदि फसल का तीन-चौथाई भाग नष्ट हो जाए तो लगान माफ कर दिया जाएगा। किन्तु सरकार ने इस संकट की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और बेरहमी से लगान वसूल करती जा रही थी।

अहिंसा सद्गुण के समान है जो परिवार की पाठशाला से शुरू होता है परन्तु एक व्यक्ति को अहिंसा का प्रशिक्षण देना आवश्यक हो तो राष्ट्र के लिए उसी प्रकार का प्रशिक्षण देना और भी अधिक आवश्यक हो जाता है। दिसम्बर 1941 में हिटलर को लिखे अपने दूसरे पत्र. में गांधीजी ने नाजी मुखिया को एक देशभक्त माना न कि दैत्य। क्योंकि वे सत्याग्रह के दबाव डालने वाले तत्व का उपयोग कर रहे थे। उन्होंने हिटलर से कहा था कि वे विश्व शांति के लिए अपनी सैनिक गतिविधियों को स्थगित कर दें। विश्व शांति की विशेष धमकियों पर टिप्पणी करते हुए उन्होने कहा था कि उनका शासन सम्बन्धी दृढ़ विश्वास है कि "मौलिक रूप से मानव स्वभाव एक समान होता है इसलिए वह निश्चित रूप से प्यार को आगे बढ़ाने का कार्य करता है।" इस सम्बन्ध में हमारा यह मानना है कि गांधीजी जो कि गैर भौतिकतावादी थे, वे यह नहीं समझते थे कि आर्थिक तथा भौगोलिक विषमताएँ सैनिक क्षमताओं में योगदान देती है तथा युद्ध के लिए प्रेरणा देती है। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि उन्होंने राष्ट्रीयतावाद के युद्ध की ताकत का सीधा मूल्याकंन नहीं किया यदि कोई व्यक्ति इन शर्तों को स्वीकार कर लेता है तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गांधीजी के सत्याग्रह विचारों का उपयोग लोगों को आशान्वित करता। क्योंकि बहुत अधिक संख्या में लोग समझने लगे हैं तथा समकालीन विश्व में शांति के लिए चुनौतियों को नियमबद्ध करने की कोशिश करने में लगे हैं। जब जनवरी 1942 में गांधीजी राष्ट्र को अन्तिम संघर्ष अर्थात् भारत छोड़ो आन्दोलन के लिए तैयार कर रहे थे तो युद्ध और शांति के प्रश्न पर उनकी आत्मा दुःखी थी वे दूसरे विश्वयुद्ध के परिणामों पर गहनता से विचार कर रहे थे। इस युद्ध में विश्व के सभी देश स्वेच्छा से या अनिच्छा से शामिल थे। इस युद्ध की विभिषिका को देखकर गांधीजी को पूरा विश्वास था कि शैतानी ताकत के इस झगड़े के अन्त में न तो विजेता को शांति मिलेगी और न ही पराजित देश को शांति मिलेगी। सम्पूर्ण विला पूर्ण असभ्यता की और पीछे चला जावेगा तथा सभी मानव मूल्यों का विनाश करनो दैत्य बन जाएगा। उन्होंने मुद्धरत राष्ट्रों को चेतावनी देते हुए भविष्यवाणी की थी कि "व्यक्तिगतरूप से में सोचता हूं कि इस महायुद्ध का अन्त यहीं होगा जो कल्पित कथा, महाभारत के युद्ध का हुआ था। इस सम्बन्ध में हमारा यही मानना है कि आज सम्पूर्ण विश्व को एक और महाभारत की विभीषिका से बचाने के लिए गांधीजी की सत्य और अहिंसा की तकनीक सत्याग्रह' ही एक मात्र विकल्प है।

सत्याग्रह अपने आप में संगठित आत्मा की एकदम सही शांत प्रार्थना है। मानव सभ्यता द्वारा की गई यह प्रार्थना की घटना जापान की अणु बम्ब की दुखभरी घटना के तीन साल पहले की गई थी। परन्तु विश्व में हिंसक शक्तियों का वर्चस्व अधिक होने के कारण मानवता को यह रक्त स्नान की महामारी लगातार सात-आठ वर्षों से पीड़ित कर रही थी। इस अणु बम्ब के प्रयोग से समस्त मानवता कांप उठी और विश्व में हमेशा हमेशा के लिए सैकड़ों युद्ध सीमाओं पर यह रक्त स्नान बंद कर देने की शपच खायी जाने लगी। ऐसे समय में सभी देशों को गांधीजी की अहिंसा की नीति ही सबसे उपयुक्त लगी क्योंकि इस आणविक युग में अणु विस्फोट के विनाश से गांधीजी की नीति ही मुक्ति दिला सकती है। अणु बम्ब के आगमन के बाद उत्प्रेरक परिवर्तनों ने शांति प्रेमियों के भय को सच सिद्ध कर दिया है। आज इन राष्ट्रों ने कल्पना से परे निर्दयी हथियारों का खतरनाक भण्डार इकट्ठा कर रखा है। लगातार पांच दशकों से विश्व की जनसंख्या पूर्ण तबाही की धमकियों की कीमत चुका रही है। आज इस अणु-युग ने सत्य और अहिंसा के विश्वास का विस्फोट कर दिया है। इस अणु बम्ब ने हमें स्पष्ट दिखा दिया है कि सत्य तथा अहिंसा विश्व में सर्वोच्च शक्ति का निर्माण करते हैं। इसके सामने अणु बम की शक्ति का प्रभाव निष्क्रिय

हो जाता है। इस युग में आज हमारी राय में हिंसा एवं अहिंसा दोनों विपरित ताकते अपने रूप में एक दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न है। एक नैतिक तथा आध्यात्मिक ताकत है तो दूसरी शारीरिक और भौतिक ताकत है। पहली ताकत दूसरी ताकत से असीम श्रेष्ट है जिसका अपने स्वभाव से मानव कल्याण का उद्देश्य होता है। आत्मा की ताकत प्रगतिशील तथा अनन्त होती है और इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति इसे विश्व में अजेय बना देती है और इससे भी बड़ी बात यह है कि यह ताकत पुरुष, औरत, बच्चे सभी में निवास करती है। बहुत से लोगों में यह ताकत निष्क्रिय पड़ी रहती है। परन्तु उचित प्रशितण से इसको जागृत किया जा सकता है और विशेष यान देने योग्य बात यह है कि इस सच्चाई को पहचाने बिना तथा इसको महसूस किये बिना आत्म विनाज से बचने का कोई मार्ग है ही नहीं। इसका उपचार प्रत्येक व्यक्ति में निहित है कि व्यक्ति जीवन के सभी क्षेत्रों में आत्म अभिव्यक्ति का अपने आपको प्रशिक्षण दे। आत विश्व दुखभरी वेदना की स्थिति से गुजर रहा है। इस समय अणु बमों ने सभी प्रकार की जहिंसा की व्यर्थता को सिद्ध कर दिया है। आज गांधीजी ने अपने जीवनकाल में जिस अहिंसा की चेष्टता साबित की थी एवं जिस शांति के ध्वज को लहराया था उसे उठाये रखने में मानवता अपने आपको असमर्थ पा रही है। आणविक युग उन सुन्दर भावनाओं का तेजी से हास कर रहा है जिन भावनाओं ने मानव जाति को युगों तक जीवित रखा था। अप्रैल 1959 में समान नागरिक अधिकारों के लिए प्रसिद्ध अहिंसक संघर्ष के नेता मार्टिन लूथर किंग ने आचार्य विनोबा से भेंट की थी। सत्याग्रह के महान विज्ञान के इन दोनों व्याख्याताओं के बीच आणविक युग में सत्याग्रह के गहन महत्व पर रूचि पूर्ण वार्ता हुई। डा मार्टिन लूथर किंग ने विनोबा जी से पूछा कि "कृपा करके बताइये कि इस आणविक युग में सत्याग्रह की संभावनाओं को आप कहाँ तक देखते हैं।" जवाब में विनोबा जी ने कहा था- "आणविक युग एक ऐसा युग है जिसमें हम मानसिक दृष्टिकोणों के संघर्ष को सहन नहीं कर सकते। वर्ना आणविक हथियार निश्चित रूप से पूर्ण सफाया करके मानवता की पूर्ण समस्या को ही हल कर देंगे। इसलिए हमारे दार्शनिकों द्वारा प्रयोग किया गया शब्द 'सत्याग्रह' मैं प्रयोग करने की अनुमति चाहूँगा कि इस युग को शारीरिक रूप से ही नहीं बल्कि मानसिक रूप से भी ऊपर उठाने की आवश्यकता है तथा उच्च मानसिक स्तर पर सोचने की आवश्यकता है। क्योंकि अतिमानसिकता इस आणविक युग के साथ-साथ ही विकसित हो रही है।" सत्याग्रह का अर्थ है कि सत्य अपनी सावधानी स्वयं रखें। इस सम्बन्ध में हमारा यह सुझाव है कि हमें सत्य के मार्ग पर बाधक नहीं बनना चाहिए। सत्य को उसका काम अपने ढंग से करने दे अर्थात हम मानसिक स्तर से ऊपर उठ जाये तो सत्याग्रह निश्चित रूप से प्रगति करेगा। हमारा मानना है कि भारत को गाधीजी ने सत्याग्रह के अधीन सामूहिक रूप से खड़ा होने के लिए नई शक्ति प्रदान की थी। यदि व्यक्ति आज के इस आणविक युग में अहिंसा की शक्ति को छोडकर हिंसा की इतनी शक्ति प्राप्त कर ले कि वह एक स्विच दबाते ही पूरा विश्व बूचड़ खाना बन जाए तो हमें ऐसी विनाशक शक्ति नहीं चाहिए। जो एक स्थान से ही पूरे विश्व में फैल जाये। आज के युग में यदि सत्याग्रह इस विनाश को नहीं रोक सकता है तो यह अर्थहीन हो जाएगा। विश्वयुद्ध ने गांधीजी को दावे के साथ यह कहने का अवसर दिया कि युद्ध का न्याय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। हमारा मानना है कि अणु बम ने उस सुन्दर भावना को मार दिया है। जिसने मानवता को कई युगों तक जीवित रखा। पहले युद्ध के तथाकथित नियम हुआ करते थे जो इसको सहनीय बना दिया करते थे। परन्तु आज ये आणविक युद्ध ताकत के अलावा कोई अन्य नियम नहीं जानता। इसलिए आज इस हिंसा की ताकत को हिंसा से मिटाना नामुमकिन है। इस युग के युद्ध का मुकाबला करने के लिए अहिंसक प्रतिकार की शक्ति ही उपयोगी साबित होगी। आज आणविक युग में सत्याग्रह के स्थान को निश्चित करने के लिए इन परमाणु शक्तियों से डर कर भागने की जरूरत नहीं है। बल्कि गांधीजी के सत्य और अहिंसा की नीति 'सत्याग्रह' के माध्यम से इन तानाशाहों का डट कर अहिंसक प्रतिकार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। गांधीजी द्वारा प्रतिपादित सत्य और अहिंसा के विचार को आज गंभीरता से लेना होगा। उनके सत्याग्रह के तरीकों से ही अमानवीय शक्तियों का सामना किया जा सकता है। इस युग में गांधीजी की सत्याग्रह एवं अहिंसा की तकनीक का प्रयोग करके अमेरिका में मार्टिन लूथर किंग और दक्षिण अफ्रीका में नेल्सन मंडेला ने सत्याग्रह की महत्ता को सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार आज हिंसा के प्रदर्शन पर अहिंसात्मक प्रतिरोध की श्रेष्ठता सिद्ध हो गई है।

आधुनिक वैश्विक परिप्रेक्ष्य में गांधी का सत्याग्रह

आधुनिक वैश्विक परिप्रेक्ष्य में सत्याग्रह की प्रासंगिकता निरंतर बढ़ती जा रही है। आज का विश्व अनेक जटिल समस्याओं—जैसे युद्ध, आतंकवाद, मानवाधिकार हनन, आर्थिक असमानता तथा पर्यावरण संकट—से जूझ रहा है। ऐसे समय में गांधी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह एक नैतिक एवं अहिंसात्मक समाधान के रूप में अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। सत्याग्रह का मूल आधार सत्य और अहिंसा है, जो व्यक्ति और समाज दोनों के नैतिक उत्थान पर बल देता है। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में, जहाँ हिंसा और शक्ति-प्रदर्शन को अक्सर समस्या समाधान का माध्यम माना जाता है, वहीं सत्याग्रह एक वैकल्पिक मार्ग प्रस्तुत करता है, जो संवाद, सहिष्णुता और नैतिक बल पर आधारित है। आज विश्व के अनेक देशों में सामाजिक एवं राजनीतिक आंदोलनों में अहिंसात्मक प्रतिरोध का प्रयोग बढ़ा है। इसके अतिरिक्त, पर्यावरण संरक्षण के क्षेत्र में भी सत्याग्रह की उपयोगिता देखी जा सकती है। जलवायु परिवर्तन, प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध

दोहन तथा प्रदूषण के विरुद्ध चल रहे आंदोलनों में शांतिपूर्ण विरोध और जन-जागरूकता के माध्यम से परिवर्तन लाने का प्रयास किया जा रहा है, जो गांधीवादी सत्याग्रह की ही आधुनिक अभिव्यक्ति है। हालांकि, आधुनिक युग में सत्याग्रह के समक्ष कुछ चुनौतियाँ भी हैं। डिजिटल युग में सूचना का दुरुपयोग, राजनीतिक स्वार्थ, तथा त्वरित परिणामों की अपेक्षा सत्याग्रह की धीमी प्रक्रिया को बाधित करते हैं। फिर भी, नैतिक शक्ति और जनसमर्थन के आधार पर सत्याग्रह आज भी प्रभावी सिद्ध हो सकता है। अतः कहा जा सकता है कि आधुनिक वैश्विक परिप्रेक्ष्य में सत्याग्रह न केवल एक ऐतिहासिक अवधारणा है, बल्कि यह वर्तमान और भविष्य के लिए एक प्रासंगिक एवं प्रभावशाली मार्गदर्शक सिद्धांत है, जो विश्व में शांति, न्याय और सतत विकास की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

आज अणु युग ने मानव के सामने एक चुनौती खड़ी कर दी है। युग-युग से मानव आपस मैं लड़ता झगड़ता आया है और फिर भी मानव जाति टिकी हुई है। किंतु आज अणु-युग में मानय को ऐसी गम्भीर चेतावनी दे दी है कि मानव यदि अब एक दूसरे के साथ लड़ना बंद नहीं करेगा तो यह सम्पूर्ण मानव जाति का विनाश कर बैठेगा। इसलिए आज मानव समाज से हिंसा को उखाड़ना अति आवश्यक हो गया है इस सम्बन्ध में हमारी राय यह है कि मनुष्य अपने पड़ौसी के साथ शांतिपूर्वक भाईचारे के साथ रह सके, ऐसी नयी जीवन पद्धति को अपनाना जरूरी हो गया है। आज के इस आणविक युग में मानवता को आगे का रास्ता ठीक से दिखाई नहीं दे रहा है। पिछले कुछ वर्षों से उसके सामने नये-नये विचार आये, नये-नये रास्ते दिखाई दिये, उन सबका अनुभव उसे प्राप्त हुआ है। कल्याणकारी राज्य भी बना, समाजवादी राज्य की और साम्यवादी राज्य की भी स्थापना हुई। ये आज की दुनियां के वे नये-नये नारे, नयी-नयी विचार-धारायें थी जिन्होंने लाखों करोड़ों लोगों को आकर्षित किया और इन नारों के मातहत बड़ी-बड़ी क्रांतियां हुई लेकिन उन सबमें मानव समाज की जो समस्याएं है उन सब का समाधन नहीं हुआ, शांति का मार्ग नहीं मिला। ऐसे समय में गांधीजी के बताये हुए रास्ते का अवलोकन करें तो यही निष्कर्ष निकलता है कि आज के इस अणु युग में मानव सभ्यता को विनाश से बचाने के लिए केवल गांधीजी की सत्य और अहिंसा की नीति 'सत्याग्रह' ही एक मात्र विकल्प बचा है।

सन्दर्भ सूची

1. रामरतन-गांधीजी कान्सेप्ट ऑफ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन, पृ. 160, कलकत्ता मिनर्वा एसोसियेट्स, 1972
2. रामरतन- उपयुक्त,160
3. रामरतन- उपयुक्त,162
4. यंग इण्डिया, 5 जनवरी 1922
5. उपर्युक्त, 16 जुलाई, 1920
6. इण्डियन ऑपिनियन, 26 सितम्बर, 1908
7. मो.क. गांधी आत्मकथा, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1957, पृ. 285
8. मो.क. गांधी-उपर्युक्त, 299
9. यंग इण्डिया, 5 जनवरी 1922
10. रामरतन, प्राबलम्बस ऑफ पोलिटिकल ऑब्लिगेशन इन गांधीज पोलिटिकल थॉट, पृ. 221, दिल्ली विश्वविद्यालय, पीएच.डी. शोध प्रवन्ध, 1970
11. रामरतन-उपर्युक्त, सं. 2, पृ. 226
12. वही, सं. 2, पृ. 250-53